Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वर्ष 12 अंक 1 जनवरी 1998

# उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक दार्शनिक षाण्मासिक

सम्पादक

यशदेव शल्य : मुकुन्द लाठ

सहयोगी

गोविन्दचन्द्र पाण्डे, दयाकृष्ण
रमेशचन्द्र शाह, अशोक वाजपेयी

दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वर्ष 12 अंक 1 जनवरी, 1998

# उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक दार्शनिक षाण्मासिक

सम्पादक

यशदेव शल्य : मुकुन्द लाठ

सहयोगी

गोविन्दचन्द्र पाण्डे, दयाकृष्ण

रमेशचन्द्र शाह, अशोक वाजपेयी

दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

## संपादन-सहयोगी

1. गोविन्दचन्द्र पांडे, 11, बलरामपुर हाऊस, इलाहाबाद - 211002
2. दयाकृष्ण, बी-189/ए, विश्वविद्यालय मार्ग, बापूनगर, जयपुर - 302015
3. रमेशचन्द्र शाह, निदेशक-निराला सृजन-पीठ, सी-165/1, प्रोफेसरकालोनी, भोपाल- 462002
4. अशोक वाजपेयी, सी 2/43, शाहजहां रोड, नई दिल्ली - 110011

## संपादक

1. यशदेव शल्य, पी-51, मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर - 302015
2. मुकुन्द लाठ, ए37/38, विश्वामित्र मार्ग, श्याम नगर, अजमेरं रोड, जयपुर 302006

वार्षिक शुल्क
व्यक्तिगत — रु. 30/-
संस्थाएं — रु. 50/-

आजीवन शुल्क
व्यक्तिगत — रु. 300/-
संस्थाएं — रु. 3000/-

यशदेव शल्य एवं मुकुंद लाठ द्वारा दर्शन प्रतिष्ठान, पी-51 मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर-302015 के लिए विशाल कम्प्यूटर्स, जयपुर से टंकित तथा रूपा प्रिन्टर्स, जयपुर में मुद्रित।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

# विषय-सूची

| | | |
|---|---|---|
| 1. पुनर्जन्म की भारतीय अवधारणा | गोविन्दचन्द्र पांडे | 1 |
| 2. मृत्यु-चिन्तन | यशदेव शल्य | 15 |
| 3. भारतीय दर्शनों में अत्यन्ताभाव | नारायण शास्त्री द्राविड़ | 31 |
| 4. संगीत एवं चिन्तन : शल्य जी से दो बातें | मुकुन्द लाठ | 39 |
| 5. राग और रस | पंडित ओमकारनाथ ठाकुर | 59 |
| 6. उन्मीलन गोष्ठी | राजेन्द्र स्वरूप भटनागर | 82 |

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

# पुनर्जन्म की भारतीय अवधारणा*

गोविन्दचन्द्र पाण्डे

वस्तुतः पुनर्जन्म की अवधारणा को 'भारतीय' पद से विशेषित करना एक अनावश्यक पुनरुक्ति है क्योंकि पुनर्जन्म की अवधारणा का मूल भारतीय ही है। उसकी यदाकदा अन्यत्र प्रतीति होते हुए भी वे सब प्रतीतियाँ भारतीय मूल पर ही आधारित मानी जानी चाहिए।[1] इस संदर्भ में यह स्मरणीय है कि पुनर्जन्म की अवधारणा और्ध्वदैहिक जीवन मात्र की अवधारणा नहीं है। आदिम काल से ही मनुष्य को यह आभास था कि मृत्यु ही जीवन का अन्त नहीं है। मृत्यु के बाद भी एक प्रकार का जीवन शेष रहता है।[2] स्थूल शरीर के नष्ट होने पर भी मनुष्य की सूक्ष्म रूप से सत्ता बची रहती है। इस सूक्ष्म सत्ता को प्रायः जीव, प्राण, जीवात्मा, सूक्ष्म देह, लिंग देह आदि नामों से कहा जाता था।[3] इस लोक में मनुष्य ने जीवन किस प्रकार बिताया है, उसका नैतिक आचार अथवा धार्मिक अनुष्ठान कैसे रहे हैं, इस पर उसके मृत्यु क़े बाद के जीवन की विशेषता निर्भर करती हैं। इस लोक का आचारानुष्ठान परलोक का निर्धारण करता है। इस प्रकार की धारणाएँ बहुत से प्राचीन समाजों और जातियों में प्रचलित थीं।[4] सभी धर्मों में ऐसी धारणाएँ मिलती है। वस्तुतः मृत्यु की प्रतीति से जनित संवेग ही सब धर्मिक खोज की मूल प्रेरणा है।[5] एक ओर जीवन के नानाविध कार्य-कलाप और उपभोगों की चकाचौंध, दूसरी ओर मृत्यु का दुर्निवार, सर्वापहारी अवसान। मृत्यु का भय न्यूनाधिक रूप में सर्वव्यापी है और सभी धर्म और्ध्वदैहिक जीवन और परलोक की कल्पना से मनुष्य को एक प्रकार की अमरता का आश्वासन देते हैं। उचित धार्मिक अनुष्ठान से मृत्यु के बाद भी मनुष्य सुख से जी सकता है, यह उनका आश्वासन है।

किन्तु पुनर्जन्म की अवधारणा सिर्फ इतनी नहीं है। वह एक सुनिश्चित सिद्धान्त है जो न भावनामूलक आशा है, न श्रद्धामूलक प्रत्यय, न तार्किक कल्पना मात्र। पुनर्जन्म के सिद्धान्त की प्राचीनकाल में प्रचलित आख्या संसारवाद थी और उसके अन्तरंग थे कर्मवाद और निवृत्तिधर्म। मानवीय सत्ता जीव रूप में अमर है और अपने कर्मों के अनुसार जन्म-मरण के अनादि चक्र में पड़ी हुई है। उसकी मुक्ति का मार्ग संसार से निवृत्ति का मार्ग है। इस सिद्धान्त का आधार भावनात्मक, श्रद्धात्मक या तार्किक कल्पना न होकर योग-जन्य साक्षात्कार था।[6] पुनर्जन्म की अवधारणा अनुभूतिसिद्ध थी और योग-साधन की परम्परा में जन्मी थी। यद्यपि योग और तंत्र बहुत प्रकार के हैं और उनके प्राणसाम्य अथवा भावोत्कर्ष पर आधारित रूप अनेक समाजों में पाये जाते हैं[7] तथापि देहादि समस्त उपाधियों का एक निश्चित क्रम से विवेकमूलक अतिक्रमण करने वाले अध्यात्मयोग की

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



परम्परा भारत में विशेष रूप से पनपी, ऐसा प्रतीत होता है। उसी परम्परा के परिवेश में कर्मवाद, संसारवाद और नैष्कर्म्य का विकास हुआ। पुनर्जन्म की अवधारणा के योगमूलक होने के कारण ही उसका प्रायः सभी भारतीय सम्प्रदायों में समान रूप से स्वीकार था। अनन्त वाद-विवाद के चलते हुए भी पुनर्जन्म के ऊपर कोई मौलिक मतभेद नहीं था। जीव का स्वरूप क्या है, कर्म का स्वरूप क्या है, कर्म-फल का दाता कौन है, इत्यादि प्रश्नों की दार्शनिक व्याख्याएँ अवश्य ही अलग अलग ढंग से मिलती हैं, पर दार्शनिक व्याख्याओं के कल्पना से अविलग होने के कारण उनमें ऐकमत्य असम्भव है। पुनर्जन्म का मूल सिद्धान्त दार्शनिक तत्त्व न होकर तथ्यात्मक है और अनुभूति का विषय है। पर सभी तथ्यों के विषय में तात्त्विक प्रश्न उठाये जा सकते हैं और इन प्रश्नों के उत्तर दार्शनिक चिन्तन और विवादों के घेरे से नहीं निकल सकते। पुनर्जन्म के योग द्वारा सत्यापनीय वैज्ञानिक सिद्धान्त को उससे जुड़े हुए व्याख्यात्मक दार्शनिक सिद्धान्तों से अलग रखना आवश्यक है और दोनों को ही मात्र परलोक या और्ध्वदैहिक जीवन की धारणा से।

इस प्रकार तथ्य और अवधारणा के अनेक स्तर निश्चित किये जा सकते हैं। 'मनुष्य एक मरणशील प्राणी है' यह सार्वजनिक प्रत्यक्ष का गोचर तथ्य है। मनुष्य की सूक्ष्म सत्ता मृत्यु के बाद भी बनी रहती है और अपने वास्तविक स्वरूप में मनुष्य अमर है, यह भी तथ्य है, किन्तु इस तथ्य का आधार अलौकिक ज्ञान और उस पर आधरित नाना आगमिक परम्परायें हैं। मूलतः योग पर आधारित परम्परा में पुनर्जन्म एक वैज्ञानिक तथ्य के रूप में निर्धारित हुआ। इस विज्ञान को विषय बनाकर अनेक दार्शनिक मत उद्‌भावित हुए। दूसरी ओर जीव की अमरता और और्ध्वदैहिक सत्ता को तथ्य के रूप में स्वीकार कर पुनर्जन्म के तथ्य को बिना देखे अनेक शास्त्रीय व्याख्याएँ नाना धर्मों में प्रचलित हुईं।

इस प्रकार टाइलर जैसे नृतत्त्ववेत्ता का यह मत कि पुनर्जन्म की अवधारणा आदिम जन-जातियों के अन्ध-विश्वास में उपजी, एक भ्रांति मानी जानी चाहिए।[8] प्रो. गार्वे ने यह स्पष्ट कर दिया है कि किसी आदिम जन-जाति में मरणोत्तर जीवन की कल्पना इससे अधिक नहीं मिलती कि मनुष्य मृत्यु के बाद किसी पशु या पौधे के रूप में बना रहे।[9] मिश्र और पश्चिम एशिया की पुरानी सभ्यताओं में मरने के बाद जीवात्मा का परलोकवास स्वीकार किया जाता था किन्तु इस लोक में फिर जन्म नहीं माना जाता था। यह माना जाता था कि धार्मिक अनुष्ठान, बलिदान आदि से पारलौकिक जीवन इस जीवन के नमूने पर गढ़ा जा सकता है। इन धारणाओं में सूक्ष्म जीव सत्ता का स्वीकार होते हुए भी उसे स्थूल देह से स्वतन्त्र जीवन का अधिकारी नहीं माना जाता था। पर यह माना जाता था कि मृत्यु के बाद जीव को आनुष्ठानिक कौशल से स्थूल देहोचित भोग उपलब्ध हो सकते हैं। प्राचीन यूनानियों में मरणोत्तर जीवन प्रेतलोक में निवास माना जाता था और प्रेतलोक एक छायोपम लोक समझा जाता था।[10] उसके लिए कोई उत्कण्ठित नहीं हो सकता था। इन सभी धारणाओं में सूक्ष्म जीव-सत्ता स्थूल देह की छाया या प्रतिबिम्ब के समान ही मानी जाती थी और इस रूप में अमरता तभी वांछनीय मानी जाती थी जब किसी प्रकार

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



से स्थूल देह के सायुज्य के द्वारा उसमें अभीष्ट भोग की प्राप्ति सम्भव हो। जीव की स्थूल-परतन्त्रता और स्थूल की पुनरभीप्सा और लौकिक भोगों के प्रतिमान पर पारलौकिक सुख की कल्पना इस समस्त विचारविश्व में केन्द्रीभूत थे। इसलिए होमर के वीरों के लिए यही जीवन वास्तविक था और शायद इसीलिए ईसामसीह की अमरता की शहादत के रूप में मृत्यु के अनन्तर उनके सदेह स्वर्ग-गमन की कल्पना प्रस्तुत की गयी। प्रचलित मुस्लिम धर्म के अनुसार भी एक दिन सभी मृत व्यक्तियों का सशरीर उत्थान होगा।

इन सभी धारणाओं से पुनर्जन्म की धारणा नितान्त भिन्न है। उसमें स्थूल देह और उसके भोग वांछनीय नहीं रहते। वे बन्धन और दुःख के नाना रूप बन जाते हैं। परलोक और उसका सूक्ष्म जीवन, स्वर्ग और उसके सुख, सभी हेय माने जाते हैं। अमरता स्वरूपावस्थान मानी जाती है, न कि भोगों की अनन्त शृंखला। सुख-भोग के स्थान पर वांछनीय होती है मुक्ति और मुक्ति का साधन होता है ज्ञान न कि किसी प्रकार का आनुष्ठानिक कर्म। जहाँ परलोक में मरणोत्तर जीवन की अन्य प्रचलित धारणाएँ इस लोक की कल्पना का ही क्षेत्र-विस्तार हैं, पुनर्जन्म का सिद्धान्त आत्मा, कर्म और पुरुषार्थ के निगूढ़ तत्त्वों के विमर्श पर आधारित है।

इस सन्दर्भ में ऐतिहासिक तथ्य के रूप में उल्लेखनीय है कि प्राचीनतम वैदिक साहित्य में पुनर्जन्म की चर्चा नहीं मिलती है।[11] उसमें मरणशील मनुष्य और अमर देवताओं का विभाजन आत्यन्तिक है। ऋत और सत्य का पालन करने वाले मनुष्य एक नये सूक्ष्म शरीर से पितृलोक में निवास करते हैं।[12] पितृलोक ही यमलोक है।[13] वहाँ के जीवन में सुख की संभवना होते हुए भी उसकी वांछनीयता मृत्यु की अनिवार्यता के कारण ही है। इस लोक में सुखी जीवन ही मनुष्य का मुख्य लक्ष्य है, न कि परलोक में।[14] "जीवेम शरदः शतम्"।[15] ब्राह्मण-साहित्य में यज्ञ-विधि परलोक में सुख-प्राप्ति के साधन के रूप में प्रपंचित है। "स्वर्गकामो यजेत", यह उसके चिन्तन-वितान का प्रधान सूत्र है।[16] परलोक में पुनर्मृत्यु की सम्भावना का डर भी उस युग में उद्भावित हुआ और यह कल्पना प्रस्तुत हुई कि सूर्य के इस पार के सभी लोक मृत्यु के अधीन हैं।[17] उपनिषदों में मनुष्य के स्वरूप की खोज ने इस वैचारिक स्थिति में एक क्रांति ला दी। मनुष्य की आत्मा उसकी देह या अंग नहीं है, न स्वप्नविहारी और प्रतिबिम्बोपम सूक्ष्म देह ही है।[18] मनुष्य की आत्मा स्वरूपतः नित्य है, अज और अमर है। नित्य आत्मा देही कैसे बनती है, यह प्रश्न स्वाभाविक है। इसका एक ही उत्तर सम्भव है कि अज्ञान से ही आत्मा और देह के तादात्म्य की प्रतीति होती है। इस प्रकार देह और मन एवं उनके धर्म आत्मा के लिए आगन्तुक उपाधिमात्र बन जाते हैं। इस स्थिति में आत्मा का सम्बन्ध केवल मानव देह से नहीं रहता। सभी योनियों और देहों से उसका सम्बन्ध बराबर ही तटस्थ रूप से रह सकता है। इस प्रकार देहादि से अछूती और स्वरूपतः निर्विकार आत्मा का नाना योनियों में देहादि से सम्बन्ध अज्ञान के द्वारा घटता है। परलोक का सूक्ष्म जीवन उसके लिए

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



उतना ही अज्ञान-जनित है जितना कि इस लोक का स्थूल जीवन। लोक और लोकोत्तर में विचरण उसके लिए बन्धन मात्र है। उसकी वास्तविक स्थिति मुक्ति ही है।

आत्मा और पुरुषार्थ के विषय में इन विचारों के विकसित होने पर भी पुनर्जन्म के सिद्धान्त के आविर्भाव के लिए वैदिक औपनिषदिक विचार-धारा के लिए प्राचीन मुनि-श्रमण धारा से सम्पर्क आवश्यक था।[19] उपनिषदों के ही कुछ सन्दर्भों में इस सम्पर्क का पता चलता है। जनक-सभा में जब याज्ञवल्क्य से जारत्कारव आर्तभाग ने प्रश्न किया कि मृत्यु के बाद क्या शेष रहता है तो याज्ञवल्क्य ने कर्म के तत्त्व का उल्लेख किया।[20] एक दूसरे संवाद में स्वयं याज्ञवल्क्य ने प्रश्न किया कि मृत्यु के बाद किस मूल से पुनर्जन्म होता है। इस प्रश्न का उत्तर उपस्थित विद्वानों में से कोई न दे सका।[21] एक अन्य संदर्भ में यह स्पष्ट कहा गया कि काम और कर्म ही पुनर्जन्म के कारण हैं।[22] इससे स्पष्ट है कि कर्मवाद ही पुनर्जन्म के सिद्धान्त का मूल है। कर्मवाद श्रमण-परम्परा का प्रधान तत्त्व था। उपनिषदों के काल से पुनर्जन्म का सिद्धान्त ब्राह्मण और श्रमण दोनों ही परम्पराओं में स्वीकृत हुआ। उनमें मूल अन्तर यह था कि आस्तिक ब्राह्मण-परम्परा में कर्म का फल-दाता ईश्वर माना जाता है जबकि नास्तिक श्रमण-दर्शनों में कर्म स्वयं अपने फल का दाता होता है।

पुनर्जन्म विषयक प्राचीन व्याख्याओं पर विचार करने से पहले इस बात पर विचार करना आवश्यक है कि पुनर्जन्म के विषय में क्या प्रमाण है। भारतीय धर्म के अतिरिक्त और किसी भी धर्म में इस प्रकार की धारणा नहीं मिलती। बुद्धिवादी दर्शन और भौतिकवादी विज्ञान दोनों ही इस प्रकार की अवधारणा को अयुक्त मानते हैं। इस प्रकार पुनर्जन्म के पक्ष में न तो लौकिक प्रत्यक्ष, न बुद्धि और न अन्य धर्मों के आगम या उनसे अनुमत श्रद्धा ही प्रमाण के रूप में प्रस्तुत की जा सकती है। ऐसी स्थिति में सिर्फ भारतीय आगमों के आधार पर पुनर्जन्म पर विश्वास कहाँ तक युक्तियुक्त होगा?

पहले तो प्रमाणों के विषय में ही कुछ विचार आवश्यक है। बाहरी जगत् के पदार्थ ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष के आधार पर प्रमाणित किये जाते हैं। घट-पट आदि स्थूल पदार्थों को हम अभ्यस्त प्रत्यक्ष से ही सत्य मान लेते हैं, किन्तु उनके आधारभूत परमाणु आदि सूक्ष्म पदार्थों का इस प्रकार का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। भौतिकी की प्रगति अधिकाधिक ऐसे तत्त्वों को प्रकाशित करती है जिनके दृश्य चित्र की भी कल्पना नहीं की जा सकती, जैसे कि कण और तरंगों की एकात्मकता या कि सम्भवना-तरंगें या कि स्वरूपतः अवच्छिन्न देश, या देश-काल की एकात्मता।

भौतिक जगत् के भी मौलिक तत्त्व ऐन्द्रिय कल्पना से नहीं बल्कि विलक्षण गणितीय तर्क से ही समझे जा सकते हैं। भौतिक विज्ञान ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष से आरम्भ होता है किन्तु वह जिन सूक्ष्म तत्त्वों को छूने लगा है उनके स्वरूप की कल्पना अभ्यस्त लौकिक प्रत्यक्ष के आधार पर नहीं की जा सकती है। संक्षेप में यह कहना होगा कि जगत् को समझने के लिए किस प्रकार की कल्पना युक्तियुक्त है, यह दृष्ट जगत् के प्रतिमान पर नहीं हो

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



सकती। इलेक्ट्रोन को अत्यन्त विभक्त पिण्ड के रूप में नहीं सोचा जा सकता, न देशगत आकुंचन को दैशिक पदार्थों के आकुंचन के समान। स्वतः आकुंचित, अवच्छिन्न देश क्या होता है, इसकी प्रत्यक्ष के आधार पर कल्पना ही नहीं की जा सकती। इस स्थिति में मनुष्य-तत्त्व को समझने के लिए स्थूलवादिता का आग्रह अयुक्त प्रतीत होता है। मनुष्य विषय और विषयी दोनों है। विषय के रूप में इसकी व्याख्याएँ प्राणिविज्ञान के अनुरूप होनी चाहिएँ। किन्तु प्राणि-विज्ञान या मनोविज्ञान अभी उस अवस्था से बहुत दूर हैं जो भौतिकी ने प्राप्त की है। भौतिक पिण्ड शून्य की तरंगों में विलीन हो चुके हैं और ये तरंग-कण ही दृश्य प्रतिभासों के अदृश्य हेतु हैं। पर प्राण-तत्त्व या मनस्तत्त्व केवल दृश्य प्रतिभास भी नहीं हैं जिन्हें भौतिक हेतु का विकार मात्र माना जाय। प्राण और मन दोनों ही में एक निगूढ़ पर उभरती विषयिता है जो उन प्रमाणों का विषय नहीं है जो विषयों के लिए पर्याप्त हैं। निर्जीव यंत्र-पुरुष को सजीव पुरुष से यान्त्रिक प्रत्यक्ष के आधार पर अलग करने की कोई निश्चित कसौटी निर्धारित करना अत्यन्त कठिन है। सजीव शरीर में जो भी परिस्पन्दात्मक लक्षण देखे जा सकते हैं उन्हें सिद्धान्ततः यंत्र-शरीर में भी व्यक्त किया जा सकता है, दोनों की भौतिक संरचना सिद्धान्ततः समान हो सकती है और अतएव उनके कार्य भी। पर इतने से प्राण का रहस्य उद्घाटित नहीं होता। प्राण की प्रतीति शरीर-परिचालन या शरीर-विन्यास की प्रतीति मात्र नहीं है। प्राणों की जो प्रतीति प्राणी को होती है वह यंत्रगम्य नहीं है। यंत्र में आलेखन संभव है, प्रतीति नहीं। प्राणियों का भौतिक पिण्ड मात्र देख पाना देखने की कमी ही हो सकती है। प्राण तत्त्व भौतिक तत्त्वों में विश्लेष्य है—यह कल्पना ही प्रमाणसिद्ध नहीं है। मन के बारे में तो यह बात और भी सटीक रूप से कही जा सकती है।[23]

वस्तुतः पाँच इन्द्रियों के प्रत्यक्ष के अतिरिक्त मनुष्य में मानस प्रत्यक्ष और अपरोक्ष ज्ञान की क्षमता है। उसे अपनी सत्ता का ज्ञान अपने स्थूल शरीर को देखकर नहीं होता—न उसे अपने मन का ज्ञान अपने व्यवहार के आधार पर अनुमान से होता है।[24] मनोवैज्ञानिक मन का अनुमान शरीर से करते हैं, किन्तु उनसे यह पूछा जा सकता है कि क्या वे अपने ज्ञान का अनुमान अपने लेखन से करते हैं?

विषयी के रूप में मनुष्य को अपनी प्रतीति अपरोक्षतया होती है, भले ही इस प्रतीति के साथ देह की प्रतीति जुड़ी होती है। किन्तु अपनी प्रतीति में और देह की प्रतीति में विवेक विचारसिद्ध है।

मन की स्थिति मध्यवर्ती प्रतीत होती है। एक ओर वह दैहिक प्रतीतियों से आकारित होता है दूसरी ओर वह विषयी के सन्निकृष्ट होता है। यह बात स्वप्न में स्पष्ट हो जाती है जहाँ जागरित का अनुकरण करते हुए भी मन अपनी आपेक्षिक स्वतन्त्रता व्यक्त करता है। फलतः मनुष्य के स्वरूप को देह से अत्यन्त भिन्न और मन से भिन्न पर नात्यन्तासदृश समझना चाहिए।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



इस प्रकार मनुष्य की स्वरूपभूत अभौतिक सत्ता ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष या उस पर आधारित अनुमान से प्रमाणित नहीं होती बल्कि स्वविषयक अपरोक्षानुभूति से और अनुभव मात्र पर विचारजन्य विवेक से सिद्ध होती है। सामान्यतया सभी को अपनी अपनी प्रतीति अविचारित और अपरोक्ष रूप से होती है, इस प्रतीति को भ्रान्त विचार से ही शरीरादि की प्रतीति से अभिन्न माना जा सकता है। भौतिक शरीर से भिन्न यह आत्मसत्ता ही मरणोत्तर जीवन का आधार है। उसका शरीर से जुड़ना ही जन्म है, शरीर से अलग होना ही मृत्यु है।

यद्यपि शरीर से भिन्न आत्मा की सत्ता का स्वीकार विवेक के अनुकूल है, इतने मात्र से यह पता नहीं चलता कि आत्मा का अपना स्वरूप क्या है, उसका शरीर से सम्बन्ध क्यों उपजता है और क्यों समाप्त होता है, किस युक्तिगति से वह नियत होता है। बल्कि भौतिक प्रतिमानों को और उन पर आधारित द्रव्यादि तार्किक विभाजनों को छोड़ देने से यह प्रायः निश्चित हो जाता है कि आत्म सत्ता के विषय में सामान्य भाषा में और प्रत्याक्षाश्रित तर्क के अनुरूप कुछ भी कहना प्रायः असम्भव है। यदि आत्मा का पता विवेकपूर्वक प्रत्येक चेतना से लगता है तो उसके बारे में शब्द लक्षणा के द्वारा ही प्रवृत्त हो सकते हैं। सामान्य भाषा और तर्क के अपर्याप्त होने के कारण आत्म सत्ता की चर्चा एक ऐसे कुहासे में आच्छन्न हो जाती है जिसमें कल्पना और सांकेतिकता को नियन्त्रित करने की आवश्यकता होती है। लौकिक तर्क की दृष्टि से इसे अज्ञेयता का क्षेत्र कहा गया है। परन्तु तो भी आगमिक परम्पराओं और सांस्कृतिक सांकेतिकताओं के आधार पर नाना धर्मशास्त्रीय कल्पनाएँ यहाँ देखी जाती हैं।

देहभावापन्न आत्मा या चेतना ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष गोचर स्थूल सत्ता में निमग्न रहती है। जैसे जैसे वह विषय-विषयि-विवेक से स्वरूपबोध की ओर अग्रसर होती है वह सत्ता के नाना सूक्ष्म स्तरों का अनुभव करती है जिसका सर्वविदित निदर्शन मनोमय स्वप्नलोक है। अन्ततः उसका लक्ष्य विशुद्ध स्वरूपबोध है जहाँ विषयता की सभी कोटियाँ अतिक्रान्त हो जाने से अनिर्वचनीयता की स्थिति अनिवार्य है। विशुद्ध आत्म-तत्त्व को यदि पर-सत्ता कहा जाये और प्रत्यक्ष भौतिक तत्त्वों को स्थूल सत्ता तो नाना स्तरीय मनोमय सत्ता को सूक्ष्म सत्ता कहना युक्तियुक्त होगा। स्थूल सत्ता प्रत्यक्षसिद्ध है, सूक्ष्म सत्ता लौकिक और योगज मानस-प्रत्यक्ष से प्रमाणित होती है, पर-सत्ता अपरोक्षतया स्वतःसिद्ध है। यद्यपि सत्ता का पारमार्थिक लक्षण अभ्रान्त ज्ञान में नियत रूप से प्रकाशित होना है तथापि साँव्यवहारिक ज्ञान के स्तर पर सत्ता को कार्यक्षमता से परिभाषित किया जा सकता है।[26] चूँकि कार्यक्षमता की पहचान ज्ञान की नियत विषयता से ही हो सकती है और व्यावहारिक ज्ञान स्वयं कारणजन्य होता है अतः व्यावहारिक स्तर पर सत्ता के दोनों लक्षण अलग नहीं किये जा सकते। यह भी स्मरणीय है कि स्थूल और सूक्ष्म दोनों ही सत्ताएँ व्यवहार के अन्तर्गत हैं। मरणोत्तर जीवन सूक्ष्म स्तरीय होते हुए भी व्यावहारिक ज्ञान का ही विषय है और उसका द्वार मानस प्रत्यक्ष ही है। पर पुनर्जन्म सूक्ष्म और स्थूल दोनों स्तरों को व्याप्त

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



करता है और उसका ज्ञान न केवल ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष से, न केवल मानस प्रत्यक्ष से संभव है और न वह दो भिन्न स्तरों के ज्ञानों को कल्पना या अनुमान से मिलाकर सम्पन्न होता है। उसके लिए इस जन्म की पहचान रखते हुए व्यक्ति के द्वारा अपने पूर्वजन्म का ज्ञान आवश्यक है।

इस मीमांसा का प्रयोजन सिर्फ भौतिकवादी आग्रह से उत्पन्न पुनर्जन्म की असम्भावना का निरास करना है। मानवीय वास्तविकता इन्द्रियगोचर स्थूल देह तक सीमित नहीं है। मनुष्य की मानसिक और आत्मिक अनुभूति स्थूल देह से भिन्न प्रकार की वास्तविकता का आभास देती है, जिसका सही ज्ञान योग के द्वारा सम्भव है। योग से चित्त की सहज ज्ञानशक्ति का विकास होता है जिसे प्रतिभा या समाधिजन्य प्रज्ञा कहा जाता है। इस शक्ति से सूक्ष्म, अतीन्द्रिय एवं अपरिदृष्ट अर्थ करामलकवत् प्रत्यक्ष हो जाते हैं।[27] इसी शक्ति से ऋषियों को मन्त्रद्रष्टा माना जाता था। योगशास्त्र के अनुसार एक संयमविशेष से पूर्व जन्म का ज्ञान सम्भव है।[28] बौद्ध परम्परा के अनुसार भगवान बुद्ध को सम्बोधि के पूर्व तीन विद्याएँ प्राप्त हुईं जिनमें एक थी पूर्वनिवासानुस्मृतिज्ञान अथवा पूर्वजन्म का ज्ञान और एक थी च्युत्युपपात ज्ञान, अर्थात् मृत्यु के बाद जीवों के पुनर्जन्म का ज्ञान।[29] जैनों के अनुसार तीव्रतप से कर्म का आवरण क्षीण होने पर इस प्रकार का ज्ञान सम्भव है।[30] यह सही है कि वैदिक परम्परा में प्रायः पुनर्जन्म के सिद्धान्त को आगम पर आधारित किया गया है पर इस परम्परा में आगम को ऋषियों के मानस में प्रकाशित ईश्वरीय अथवा नित्य ज्ञान माना गया है। इस प्रकार सभी मतों में पुनर्जन्म का ज्ञान उस अलौकिक ज्ञान का अंग है जो सिद्ध पुरुषों की शुद्ध मनोऽवस्था, योग अथवा तप या ईश्वरानुग्रह से या स्वतः प्रतिभात होता है।

पुनर्जन्म की प्रामाणिकता के विरोध में भौतिकवादी आपत्ति पर ऊपर विचार किया जा चुका है। एक दूसरी आपत्ति अभारतीय धर्मों की ओर से हो सकती है। उनके आगमों में पुनर्जन्म का समर्थन नहीं मिलता है और आगम के अतिरिक्त अतीन्द्रिय विषयों के ज्ञान का कोई साधन मनुष्य के पास नहीं है। आगमों में अतीन्द्रिय विषयों में मतभेद देखकर यह भी शंका हो सकती है कि इन विषयों का कोई निश्चित ज्ञान है ही नहीं। वस्तुतः आगमों में मतभेद से यह सिद्ध होता है कि आगम का भी मूल खोजना चाहिए। यह मूल एक प्रकार का अलौकिक साक्षात्कार या प्रतिभा ही हो सकती है। किन्तु शब्दात्मक या विकल्पनात्मक होते ही यह ज्ञान अपने विशुद्ध रूप से हटकर सामाजिक संस्कारों में ढल कर नाना रूप धारण कर लेता है। इसीलिए आगमिक अभिप्राय अनिवार्यता व्याख्यासापेक्ष होते हैं और यह व्याख्या कभी भी अन्तिम नहीं हो सकती। अतएव आगमिक मतभेद न तो पुनर्जन्म के निराकरण में समर्थ हैं न उसे अनिवार्यतया संदिग्ध बना सकता है। इस प्रकार पुनर्जन्म की प्रामाणिकता मूलतः योगसमाधिजन्य ज्ञान पर आधारित है और उसका निराकरण भौतिकवाद अथवा आगमान्तरवाद के आधार पर न्यायसंगत नहीं माना जा सकता।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



बहुत लोगों को पुनर्जन्म के लिए योग का सहारा एक संदिग्ध बात की पुष्टि के लिए अन्य संदिग्ध बात की दोहाई प्रतीत होगी। वस्तुतः योग की क्षमता पर सन्देह का व्यावहारिक उत्तर योग स्वयं है। योग का आधार चित्त की अन्तर्निहित असाधारण ज्ञान-शक्ति है। उस पर सामान्य अनुभव के आधार पर संशय न्यायसंगत नहीं है क्योंकि विशिष्ट अनुभव सामान्य अनुभव को बाधित करता है। वस्तुतः अधिकांश लोग अपने जीवन में कभी न कभी असाधारण अनुभव या ज्ञान की स्फूर्ति का परिचय पाते हैं पर उसे वे अपने परिचिता परम्परागत सिद्धान्तों के अनुसार समझते हैं। आकाश की विजली या चुम्बकीय पत्थर प्राचीन काल से विदित थे, पर उनके रहस्य को आधुनिक विज्ञान ने ही खोजा है। ऐसे ही मन की रहस्यात्मक शक्तियों का आभास प्रायिक है पर उनका गम्भीर अन्वेषण योगविद्या में ही मिलता है।

पुनर्जन्म की पुष्टि के लिए कुछ अन्य युक्तियाँ भी दी गयी हैं। एक तो नैतिक युक्ति है—पुनर्जन्म के अभाव में इस जन्म के अनेक भोग बिना अपने किये कर्म के ही प्राप्त होंगे, जैसे कोई विकलांग ही उत्पन्न होता है। इस प्रकार की अकारण प्राप्ति विश्व-व्यवस्था में कमी दिखाती है और कर्मनियम का विरोध करती है। इस दोष को अकृताभ्यागम कहा गया है। इसी प्रकार जन्मान्तर के अभाव में इस जन्म के अनेक कर्म अपना फल दे ही न पायेंगे। यह कृत-प्रणाश का दोष है। वस्तुतः ये युक्तियाँ कर्मसिद्धान्त को विश्व का नियामक सिद्धान्त मानने पर आधारित हैं। किन्तु नैतिक नियम विश्व का कार्यकारी नियम है, यह दृष्ट जगत् के आधार पर नहीं कहा जा सकता।

एक अन्य युक्ति यह है कि ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं जहाँ छोटे बच्चों को अपने पूर्व जन्म का ज्ञान होता है। उन उदाहरणों में कुछ में भ्रांति अथवा धोखाधड़ी होते हुए भी ऐसा नहीं है। न्यूनाधिक रूप में ये जातिस्मर व्यक्ति पुनर्जन्म के सिद्धान्त का समर्थन करते हैं।[31]

सैद्धान्तिक स्तर पर एक युक्ति विशेष रूप से उल्लेखनीय है। मनुष्य स्वभावतः अमृतत्व और पूर्णत्व का प्रार्थी है। जीवन के प्रति अभिनिवेश तो सभी प्राणियों में देखा जाता है किन्तु सभी मनुष्येतर प्राणी अपने पृथक् और नियत स्वभाव के संतुष्ट बन्दी हैं, सिर्फ मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जो सहज प्रवृत्तियों को अपने विवेक से और भूमा के सन्धान से नियंत्रित करता है।[32] उसे विवेकोज्ज्वल बुद्धि में अपने स्वातन्त्र्य का, दृष्टातिक्रामी स्वरूप का और उसके अनुरूप परमार्थ का आभास मिलता है। स्वतन्त्र कर्त्तव्य के आभास से युक्त चेतन मनुष्य अपने को जड़ प्रकृति के परिच्छिन्न और नियत विषयों में परिसमाप्त नहीं मान सकता, न वह निरर्थक मृत्यु को अपनी अन्तिम नियति मान सकता है क्योंकि चेतना अपनी विषयिता में नित्यत्व का सन्धान लिए रहती है। यह कहा जा सकता है कि मानव-चेतना की यह पूर्णता की अभीप्सा मानव-समाज के इतिहास में क्रमशः चरितार्थ होती है न कि मर्त्य मानव-व्यक्ति के जीवन में। यह बात विज्ञान, शिल्प और संस्कृति के क्षेत्र में सार्थक हो सकती है किन्तु नैतिक और आध्यात्मिक विकास स्वभावतः चेतन

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



व्यक्ति का ही हो सकता है। किसी समाज या युग में नैतिक व्यवस्था या धर्म का विशुद्धतर रूप उस समाज या युग के व्यक्तियों के लिए एक सम्भावना व्यक्त करता है, वह उस समाज के व्यक्तियों की नैतिक स्थिति का प्रमाण नहीं है। नैतिकता या आध्यात्मिक अभीप्सा व्यक्ति के साथ अनिवार्यतया जुड़ी हुई है। इस अभीप्सा में यह माँग अन्तर्निहित है कि व्यक्ति की साधना मृत्यु से विच्छिन्न न हो। पुनर्जन्म के सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति की साधना अपने कर्म और संस्कारों के अनुरूप देहान्तर में अग्रसर होती है। बोधिसत्त्वादि की साधना अथवा बुद्धत्व की प्राप्ति अन्यथा किस प्रकार सम्भव है? जो लोग मृत्यु के पूर्व ईश्वर के प्रति समर्पण के एक क्षण को ही साधना का अन्त मान लेते हैं वस्तुतः साधना के आरम्भ को ही अवसान समझ लेते हैं और मनुष्य के लिए पूर्णत्व की प्राप्ति व्यक्तिगत रूप से सम्भव नहीं मानते। योगानुभूति पर आधारित पुनर्जन्म की अवधारणा कर्म-सिद्धान्तमूलक प्रत्याशा और आध्यात्मिक साधना में निहित आकांक्षा से समर्थित होती है और उसकी पुष्टि जातिस्मरों के दृष्टान्तों से भी होती है। दूसरी ओर भौतिकवादी अथवा आगमान्तरवादी दृष्टि से प्रस्तुत युक्तियाँ पुनर्जन्म के निरास में सफल नहीं मानी जा सकतीं। यह कहना अनावश्यक है कि सभी तार्किक विमर्श किसी दृष्टि के घेरे के अन्दर ही बना रहता है। दृष्टि के बदल जाने पर तार्किक मूल्यांकन ही बदल जाता है। अतएव यह स्मरणीय है कि पुनर्जन्म की अवधारणा एक प्राचीन आध्यात्मिक दृष्टि के अन्दर विकसित हुई जिसमें आत्मा का बन्ध और मोक्ष मुख्य तत्त्व थे। यदि इस दृष्टि को ही छोड़ दिया जाए तो पुनर्जन्म के समर्थक प्राचीन तर्क भी निष्प्रभ हो जायेंगे। अस्तु।

ऊपर कहा जा चुका है कि पुनर्जन्म से सम्बद्ध प्रश्नों की अनेक शास्त्रीय और दार्शनिक व्याख्याएँ मिलती हैं। पहला महत्त्वपूर्ण प्रश्न तो यही है कि जन्म, मृत्यु एवं पुनर्जन्म किसका होता है? प्रायः यह माना जाता है कि बीज से नवीन देह-रचना के आरम्भ के समय ही उस देह के साथ एक अतिरिक्त देही का तादात्म्य सम्बन्ध घटता है। साँख्य एवं वेदान्त में यह देही लिंग देह अथवा सूक्ष्म देह के साथ तादात्म्यापन्न जीव या पुरुष है। बौद्ध दर्शन के अनुसार यह देही क्षणिक विज्ञान-सन्तान के अतिरिक्त कुछ नहीं है। जैन मत से कर्मावृत जीव ही नवीन देह से जुड़ता है। जिन अनेक दर्शनों में सूक्ष्म देह की कल्पना नहीं मिलती उनमें जीव ही नयी देह से जुड़ता है। इस जीव को कुछ मन से युक्त, कुछ अंशतः परिणामी भी मानते हैं। सभी मतों में जीव स्वभावतः विशुद्ध है और उसका वास्तविक जन्म नहीं होता। उसका देह से सम्बन्ध एक मौलिक अज्ञान से ही सिद्ध होता है। देह-विशेष से सम्बन्ध कर्मवैशिष्ट्य के कारण होता है। चूँकि कर्म देह-परिग्रह के बिना नहीं होता और देह-परिग्रह कर्म के बिना नहीं होता अतएव यहाँ स्पष्ट ही अन्योन्याश्रय है। इसका उत्तर सभी मतों में अनादि जन्म-परम्परा मानकर दिया जाता है। इस अनादि जन्म-परम्परा के आश्रय के लिए जगत् को भी अनादि मानना पड़ता है। अतः कर्ममूलक अनादि संसार (जन्म-मरण) जागतिक सृष्टि-प्रलय के अनादि चक्र का आक्षेप करता है। सृष्टि-प्रलय का एक पर्याय कल्प कहलाता है।[33] संसार-प्रवाह और कल्प-प्रवाह

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



समानान्तर हैं और दोनों ही व्यष्टि-समष्टि कर्मों की शक्ति से नियन्त्रित हैं। ईश्वरवादी भी न जीव की सृष्टि मानते हैं, न कर्म-निरपेक्ष जगत् की सृष्टि।

आत्मा को कर्म से जोड़ने के लिए अविद्या आवश्यक है और कर्म के समान वह भी अनादि है। अविद्या के विषय में अनेक मत हैं पर सब में ही अविद्या आत्मा के स्वभाव को आवृत करती है और उसे भ्रांति में डालती है। भ्रांति की भी अनेक व्याख्याएँ हैं किन्तु सब में यह समान है कि भ्रांति में जो जैसा है वैसा नहीं दीखता। इस मौलिक भ्रांति के कारण आत्मा अपने को सीमित ज्ञातृत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व से युक्त एक अपूर्ण पर पृथक् इकाई के रूप में मानती है। अनादि काल से अविद्यागर्भ में सुप्त जीव को वेदान्त अविद्यात्मक कारण-देह में तादात्म्यापन्न मानता है। काल से विक्षुब्ध कर्मशक्ति से वह सूक्ष्म और स्थूल देहों का परिग्रह करता है। सूक्ष्म शरीर या लिंग देह को सांख्य दर्शन में महत् से सूक्ष्म तन्मात्रों तक (बुद्धि, अहंकार, मनस्, पाँच इन्द्रियाँ, पाँच तन्मात्र), 18 तत्त्वों का बना बताया गया है।[34] लिंग देह धर्म, अधर्म आदि भावों से वासित होता है और नट के समान नाना स्थूल शरीरों की भूमिकाओं का ग्रहण करता है। वेदान्त के अनुसार भी लिंग शरीर परलोक यात्रा का निर्वाहक और मोक्ष पर्यन्त स्थायी होता है किन्तु वह 17 तत्त्वों का बना होता है : मन, बुद्धि, 5 इन्द्रिय, 5 कर्मेन्द्रिय और 5 प्राण : जो सभी अपंचीकृत भूतों से निर्मित हैं।[35] आत्मा को सूक्ष्म शरीर से अविद्या जोड़ती है, सूक्ष्म शरीर को स्थूल शरीर से कर्म जोड़ते हैं। अविद्या से अपने स्वरूप को भूलकर उसमें अपूर्णता की प्रतीति होती है, इससे तृष्णा अथवा काम की उत्पत्ति होती है, उससे कर्म और उससे कर्मफल। इस प्रकार अविद्या, काम, कर्म और भोग की आनुपूर्वी से पुनर्जन्म अथवा संसार का अन्तर्नियामक सूत्र बनता है।

संसार की प्रक्रिया का शायद प्राचीनतम सजीव वर्णन बृहदारण्यकोपनिषद् में मिलता है।[36] मरते समय जीव प्राण और इन्द्रियों के तेज को समेटकर हृदय में प्रविष्ट होता है और बाहरी विश्व की ओर उदासीन हो जाता है। 'हृदय' वास्तव में शून्याकाशवद् अन्तर्मुख बुद्धि का ही संकेत है जिसमें मन सुषुप्ति के समय प्रवेश करता है, पर उस समय इन्द्रियाँ पूरी तरह से सिमटती नहीं हैं।[37] उस समय विज्ञानमय जीवात्मा लिंग देह की उपाधि से युक्त अपने ही प्रकाश के सहारे स्थूल देह से हट जाता है। वह आँखों से आदित्य लोक के लिए, सिर से ब्रह्मलोक के लिए अथवा शरीर के अन्य अवयवों से अन्य लोकों के लिए प्रस्थित होता है। इस समय उसकी चेतना स्वप्नवत् और कर्मपरवश होती है। उसके साथ उसके कर्म, ज्ञान और उसके अनुभव के संस्कार चलते हैं। विद्या, कर्म और पूर्वप्रज्ञा के साथ जीव शरीर छोड़ता है। वेदान्त के अनुसार यद्यपि प्राण और करण स्वरूपतः व्यापक हैं, उनका देहविशेष में परिच्छेद अथवा उससे विच्छेद कर्म, ज्ञान और वासना के अनुरूप होता है। जैसे जोंक घास के एक तिनके को छोड़कर दूसरे पर सरक जाता है ऐसे ही संसारी एक देह को छोड़कर दूसरों का आश्रय लेता है। जैसे पिछले गहने से सोना लेकर सुनार नया गहना गढ़ता है, ऐसे ही संसारी पिछले कर्म के आधार पर अनुरूप

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



लोक में नयी देह गढ़ता है। यह संसारी बुद्धि, मन, प्राण, इन्द्रियाँ, पाँच भूत, वासनाएँ और कर्म को लेकर देहान्तर-गमन करता है। अपने कर्म और आचरण के अनुसार उसकी नयी स्थिति होती है। "यथाकारी यथाचारी तथा भवति, साधुकारी साधुर्भवति, पापकारी पापी भवति, पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेन।"[38] संसारी पुरुष काममय कहा गया है, कामना के अनुसार संकल्प, संकल्प के अनुसार कर्म और कर्म के अनुसार फल होता है।[39]

भगवान बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्त में इन्हीं तत्त्वों का विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है। पूर्व जन्म से चली आ रही अविद्या और संस्कारों से वासित विज्ञान से इस जन्म का नाम-रूप (मन और देह) उत्पन्न होता है। उस पर निर्भर षडायतन (मन और इन्द्रिय के विषय) के स्पर्श (अनुभव) से वेदनाएँ (सुख-दुःख) जन्मती हैं। उनसे तृष्णा, उपादान (कर्म), भव, जाति और जरामरण।[40] इस प्रकार द्वादश निदानों का संसार-चक्र चलता रहता है। किन्तु बौद्ध दृष्टि में सभी निदान निःसत्त्व-निर्जीव धर्ममात्र हैं, निरात्मक संस्कारमात्र। संसार-प्रवाह किसी स्थायी आत्मा का जीवन-चरित नहीं है, वह अनेक क्षणिक भौतिक और चैतसिक शक्तियों के समूह का प्रवाह मात्र है। पर इसमें प्राधान्य मन का है और संसार मूलतः एक विज्ञान-सन्तान या अनुभव-सन्तति है।

ऐसा प्रतीत होता है कि किस का जन्म अथवा पुनर्जन्म होता है इस प्रश्न पर दो सर्वथा विरुद्ध उत्तर दिये गये हैं। एक उत्तर हैं कि जीव ही संसारी है, दूसरा कि जीव की सत्ता ही नहीं है, संसारी चित्त-प्रवाह मात्र है। किन्तु यह विरोध वस्तुतः उतना प्रबल नहीं है जितनी उसकी प्रतीति। जीववादी मत में भी जीव का संसरण अनित्य चित्ताभिमान पर ही आधारित है। दूसरी ओर अनात्मवादी बौद्ध मत में भी संसारी चित्त-सन्तान को एक प्रतिविशिष्ट इकाई मानना पड़ता है। संसरण मूलतः अहंभाव-केन्द्रित अनित्य मनःस्थितियों की लगातार धारा है इसमें कोई विवाद नहीं है, न इस पर कि इस प्रवाह का नियमन अविद्या, काम और कर्म से होता है। विवाद का विषय अहंकार के आश्रय का पारमार्थिक स्वरूप है। बौद्धगण इस आश्रय को द्रव्यसत् नहीं मानते। मतान्तर में यह आश्रय नित्य आत्मा है। पर यह स्मरणीय है कि नित्य आत्मा अहंकार का आश्रय स्वरूपतः न होकर अविद्यारोप के माध्यम से ही है। अतः संसार का मूल अहंकार ही रहता है न कि आत्मा। पर मुक्ति की तात्त्विक व्याख्या के प्रसंग में अवश्य आत्मा का प्रश्न महत्त्वपूर्ण हो उठता है। अस्तु।

कर्म परिस्पन्द या क्रियामात्र नहीं है, न कर्म-फल-सम्बन्ध प्राकृतिक कार्य-कारण-सम्बन्ध मात्र है। कर्म मूलतः मानसिक संकल्प है जिसे बौद्ध पदावली में चेतना कहा जाता है।[41] कर्म कहलाने के लिए चेष्टा का स्वेच्छापूर्वक एवं बोधपूर्वक होना आवश्यक है। सिर्फ इच्छा अथवा प्रकृति कर्म नहीं है बल्कि उनका कर्त्ता के अहंकार के द्वारा स्वीकार आवश्यक है। इस प्रकार कर्म स्वतंत्र, इष्टविषयक, क्रियाप्रवर्त्तक संकल्प है। क्रिया का स्वभाव है कि वह क्रियान्तर को जन्म देती है, यही सहज कार्य-कारण भाव है। जहाँ क्रिया को द्रव्याश्रित

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



माना जाता है वहाँ द्रव्य के स्वभाव को कारणता का अवच्छेदक माना जाता है। प्रकृत संदर्भ में वासना-राशि ही कर्त्ता का स्वभाव कही जा सकती है। विशिष्ट स्वभाव से युक्त कर्त्ता की क्रिया से उत्पन्न नियत क्रियात्मक फल प्राकृतिक कार्य-कारणात्मक नियम का दृष्टान्त होगा पर उसमें नैतिक गुणों की, पाप-पुण्य की, दूरापकृष्ट जन्मान्तर आदि की कोई भूमिका नहीं है। कर्म-फल-नियम धूम और अग्नि के सम्बन्ध के समान दृष्ट सम्बन्ध नहीं है। अच्छे-बुरे कर्मों का अच्छा-बुरा फल इस जन्म में नियम से नहीं देखा जा सकता। किन्तु कभी न कभी वह अवश्य भोक्तव्य होगा, यह नियम ही कर्म-नियम है। परिस्पन्दात्मक क्रिया के द्वारा कर्म बाह्य जगत् में परिणाम उत्पन्न करता है, कर्त्ता में यह स्मृति-संस्कार और भावनात्मक संस्कार उत्पन्न करता है। इन तीनों के अतिरिक्त वह एक अदृश्य शक्ति उत्पन्न करता है जो कर्त्ता को उसके संकल्प में निहित नैतिक गुण-अवगुण के अनुसार फल देती है।[42] मीमांसक इस शक्ति को अपूर्व कहते हैं, आस्तिक दर्शन ईश्वरेच्छा, बौद्ध चित्त की सहज शक्ति।

यहाँ पर आधुनिक संदर्भ में एक तथ्य पर विशेष रूप से ध्यान देने की ज़रूरत है। धर्म का एक पक्ष शाश्वत और सार्वभौम है : जैसे सत्य और अहिंसा, करुणा और प्रेम, निरभिमान और सेवा, संयम और आर्जव आदि की वरणीयता। उसका दूसरा पक्ष सामाजिक-ऐतिहासिक है : जैसे राजभक्ति, देश-भक्ति, वर्ग-हित, स्वजन-पोषण आदि की कर्त्तव्य में गणना। सार्वभौम शील के लक्षण और कर्त्तव्यपालन, साधारण धर्म और स्वधर्म ये धर्म के शाश्वत पक्ष हैं जिनकी अपेक्षा कर्म-नियम की प्रवृत्ति में कोई अन्तर्विरोध या अयुक्तता नहीं व्यक्त होती। दूसरी ओर वर्णाश्रम धर्म आदि व्यवस्थात्मक धर्म अनेक, परस्पर विरुद्ध और सापेक्ष होते हैं। उनके संदर्भ में पाप-पुण्य का उद्‌भव कर्त्तव्य-निष्ठा, सत्य, आर्जव आदि के पालन-अपालन आदि के माध्यम से ही हो सकता है। सरकारी कानून या विधान, अभिसन्धिपूर्वक अनुबन्ध, प्रचलित रीति-रिवाज, ये नियम स्वतः धर्म के नियम नहीं बनते। मानव-हृदय की सहज अनुशंसा अथवा आक्रोश के द्वारा ही वे धर्म अथवा अधर्म के हेतु बनते हैं।

धर्म का तत्त्व मनुष्य के हृदय में उसकी सहज विवेक-बुद्धि में निहित है। यह तत्त्व नियमात्मक है और नैतिक तथ्य के रूप में कर्म को उसके फल से जुड़ा हुआ प्रकाशित करता है। इच्छा ही शक्ति है एवं स्व और पर की तुल्यता है, इन दो मूल सिद्धान्तों से हिंसा आत्मघाती सिद्ध होती है और हिंसा ही सब पाप का मूल है जैसे अहिंसा पुण्य का। "परोपकारः पुण्याय पापाय परपीड़नम्।" स्व-पर-तुल्यता से परपीड़न आत्मपीड़न बन जाता है। इसी कारण "जो जस करई सो तस फल चाखा।" यह नियम चित्त का स्वभाव है, इसीलिए चित्ताभिमानी जीव कर्म शेष रहने पर पुनर्जन्म ग्रहण करता है।

पुनर्जन्म की अवधारणा के तत्त्व इस प्रकार अन्त में कहे जा सकते हैं—स्थूल देह के अभिमानी मनुष्य की इस देह से पृथक् सत्ता है जो मरणोत्तर जीवन का आधार है और जिसे "जीव", "आत्मा" अथवा "चित्त-सन्तति" कहा गया है। चित्तात्मक अथवा चित्ताभिमानी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



सत्ता का पुनर्जन्म अथवा संस्करण होता है और यह सत्ता अपनी वासना और कर्म के साथ उसके अनुरूप गति को प्राप्त होती है। कर्मफल-नियम ही व्यष्टि और समष्टि के इतिहास का नियामक है। इस नियम के पीछे एक सहज शक्ति अथवा ईश्वरेच्छा है। व्यक्तिगत जन्म-मृत्यु एवं जागतिक सृष्टि-प्रलय का चक्र अनादि है। स्थूल पार्थिव लोक के अतिरिक्त अनेक सूक्ष्म लोक हैं जो आवागमन के पड़ाव बनते हैं। कर्म का आधार इच्छा और उसका आधार अज्ञान है। अज्ञान के हटने पर पुनर्जन्म नहीं होता। कर्म-बन्धन से मुक्ति ही परम पुरुषार्थ है। उसके लिए अपने स्वरूप का ज्ञान आवश्यक है।

पुनर्जन्म में मुख्य प्रमाण योगानुभूति है, उसका समर्थन इस युक्ति से होता है कि अच्छे-बुरे कर्मों का फल प्राप्त करने के लिए एक जन्म अपर्याप्त है। जातिस्मर व्यक्तियों का दृष्टान्त पुनर्जन्म का स्थूल सत्यापन है।[43]

## सन्दर्भ


* अभिनन्दन ग्रंथ एक साक्षी दो सभ्यताओं का से साभार।

1. द्र. गो. च. पाण्डे : ऑरिजिन्स आव बुद्धिज्म, पृ. 280-85
2. मृत व्यक्ति को गाड़ने की प्रागैतिहासिक प्रथा इसका प्रमाण है।
3. अन्य संस्कृतियों में अन्य नाम मिलते हैं, उदा. प्राचीन मिश्री में ब, चीनी में शैन्, ग्रीक में फसूखे, लैटिन में आनिमा इत्यादि।
4. तु. ब्रेस्टेड : डवलप्मेन्ट आव रिलिजन एण्ड थॉट इन एन्शेन्ट इजिप्ट, पृ. 299
5. नचिकेता इस खोज का एक ज्वलन्त निदर्शन है।
6. इसका यह अर्थ नहीं है कि पुनर्जन्म का सिद्धान्त विकल्पात्मक व्याख्याओं से मुक्त है। कोई भी सिद्धान्त केवल अनुभूति का अविकल्पित अनुवाद नहीं हो सकता।
7. उदाहरण के लिए चीनी ताओ सम्प्रदाय में प्राणसाम्य का योग मिलता है, ईसाई रहस्यवाद में भावोत्कर्ष का। नवीन प्लातोनीय सम्प्रदाय में, कुछ सूफियों में, एक्हार्ट जैसे रहस्यवादियों में योग की प्रथा निश्चित रूप से पायी जाती है। इन सभी प्रकार के योगों को एक सार्वभौम और सनातन परम्परा के आभास मानना चाहिए।
8. उदा. प्रिमिटिव कल्चर, जि. 2, पृ. 16
9. ई. आर ई., जि. 12, पृ. 434
10. तु. रोड, साइके
11. द्र. पाण्डे, पूर्व, वहीं
12. द्र. ऋ. 9.113
13. तु. कीथ, रिलिजन एण्ड फिलॉसफी ऑव द वेद एण्ड उपनिषद्ज़, जि. 2, पृ. 408 प्र.
14. द्र. पाण्डे, फाउन्डेशन्स ऑव इण्डियन कल्चर, जि. 1, पृ. 24-26
15. वा. सं. 36.24
16. मीमांसकों की यज्ञधर्म की व्याख्या प्रामाणिक मानी जाती है। मीमांसा दर्शन में मूलतः स्वर्ग एवं धर्म का महत्व था, न कि पुनर्जन्म से मोक्ष का।
17. द्र. पाण्डे, ऑरिजिन्स, पृ. 282


CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



18. उदा. बृ. 4.3.7
19. द्र. पाण्डे, ऑरिजिन्स, पृ. 285, तथा श्रमणिज्म एण्ड इट्स इम्पैक्ट ऑन इण्डियन कल्चर
20. बृ. 3.2
21. वही, 3.9
22. वही, 4.4
23. प्राचीन दृष्टि से मन और प्राण वैसे ही संवद्ध हैं जैसे आधुनिक भौतिकी में वैद्युत् और चुम्बकीय शक्तियाँ।
24. आधुनिक बिहेवियरिज़्म अथवा पॉज़िटिविज़्म में इसी प्रकार के मत प्रचलित हैं।
25. द्र. धर्मकीर्ति, न्यायबिन्दु, 2.48
26. यही सत्ता का प्रसिद्ध बौद्ध लक्षण है—"अर्थक्रियाकारित्वं सत्त्वम्"। द्र. वही, 1.15
27. तु. गो. ना . कविराज, 'द डॉक्ट्रिन ऑव प्रतिभा' सेलेक्टेड राइटिंग्ज़, पृ. 1.46
28. योगसूत्र, 3.18 : संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम्।
29. द्र. ऑरिजिन्स, पृ. 458-59
30. द्र. मुनि नथमल, जैन दर्शन के मौलिक तत्त्व, जि. 2, पृ. 101-56
31. जिन आधुनिक वैज्ञानिकों ने इस प्रकार की घटनाओं का विशिष्ट अध्ययन किया है उनमें डॉ. स्टीवेन्स का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।
    द्र. आयन स्टीवेन्सन, ट्वन्टी केसेज़ सजेस्टिव ऑव इन्कार्नेशन, वर्जिनिया यूनि., 1974
32. तु. छा, 7
33. सृष्टि-प्रलय के कल्प सभी प्राचीन चिन्तन-धाराओं में स्वीकृत हैं सिवाय मीमांसकों के।
34. साँख्यकारिका, 40-41
35. वेदान्तपरिभाषा (चौखम्वा, 1934) पृ. 169
36. बृ. 4.4
37. सुषुप्ति में ज्ञानशून्यता होते हुए भी क्रियाशून्यता नहीं होती।
38. बृ. पूर्व.
39. वहीं "स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति, यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते, यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते।"
40. द्र. ऑरिजिन्स, पृ 432 प्र.
41. तु. नागार्जुन, मध्यमक (1.7.2) "चेतना चेतयित्वा च कर्मोक्तं परमर्षिणा।"
42. तु. योगभाष्य (3.18) द्वये खल्वमीसंस्कारास्मृतिक्लेशहेतवो वासनारूपाः।
43. पूर्वजन्म की विस्मृति का कारण लिंग देह की स्थूल देह के साथ तादात्म्यापत्ति मानी जाती है।

11, बलरामपुर हाउस, इलाहाबाद-211002

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

# मृत्यु-चिन्तन

## यशदेव शल्य

मृत्योर्मा अमृतं गमय। — बृहारण्यकोपनिषद् : 1.3.28

जा मरने से जग डरे, मेरे मन आनंद!
कब मरिहौं कब पाइहौं, पूरन परमानंद॥ —कबीर

घर लौट चले सुख-दुःख विहग, तम पोंछ रहा मेरा अग-जग,
मिट आज चला यह चित्रित मग, पलकों में अब उतरो पाहुन! —महादेवी वर्मा

मृत्यु का क्या अर्थ है? मृत्यु के बाद जीव का क्या होता है? ये प्रश्न मनुष्य के साथ आदि काल से ही, अर्थात् जब से चेतना पाशव-स्तर से उबर कर मानव-स्तर प्राप्त कर पायी है तब से ही, रहे हैं। इन प्रश्नों का उत्तर मनुष्य ने सामान्य रूप से यही पाया कि जीव का मृत्यु के साथ अन्त नहीं होता। कम-से-कम मनुष्य का मृत्यु के साथ अन्त किसी संस्कृति ने कभी नहीं माना। कुछ दार्शनिक कभी कहीं ऐसा मानते रहे हैं, या आधुनिक यूरोपीय वैज्ञानिक और दार्शनिक ऐसा मानते हैं, यह एक दूसरी बात है। इसका कारण यह है कि मनुष्य सहज में ही अपने भीतर एक अस्मिता का साक्षात्कार करता है, जो अधिष्ठाता-रूप में उसकी चित्त-वृत्तियों का ही धारण नहीं करती बल्कि शरीर का भी धारण करती है और इच्छा-संकल्प के द्वारा उनका नियोजन करती है। यहाँ पुनः कुछ दार्शनिक : जैसे बौद्ध : ही दिखायी देते हैं जो इस अधिष्ठाता या अस्मिता में व्यक्त किसी सत्त्व को स्वीकार नहीं करते, यद्यपि वे चित्त-वृत्तियों को देह से स्वतंत्र स्वीकार करते हैं। वे व्यक्ति की एकता चित्त-वृत्ति-प्रवाह में ही देखते हैं। वे इस प्रवाह का अन्त देह की मृत्यु के साथ नहीं मानते, यह बात यहाँ अवान्तर है। ख़ैर, दार्शनिकों की बात यहाँ छोड़ी जाय और अपने को सहज बोध तक ही सीमित रखा जाय। सो, यह सहज बोधगम्य अधिष्ठाता, जो शरीर को भी अधिष्ठित करता है, वह शरीर की मृत्यु के साथ नहीं मरता ऐसा सम्भवतः सभी, विकसित या अविकसित, संस्कृतियाँ मानती रही हैं, जिसका प्रमाण मृत्यु के साथ जुड़े संस्कारों और अनुष्ठानों से स्पष्ट है। किन्तु मरने के बाद इस मनुष्य का क्या होता है, वह कैसे और कहाँ रहता है, इस सम्बन्ध में कोई मतैक्य नहीं है। भारतीय संस्कृति में यह सर्वस्वीकृत मान्यता है कि यह अधिष्ठाता देह की मृत्यु के बाद पुनर्जन्म लेता है। अन्य संस्कृतियों के अनुसार भी आत्मा की मृत्यु नहीं होती, वह अपनी देह के साथ एक बार पुनः जन्म लेती है। किन्तु भारतीय संस्कृति का यह वैशिष्ट्य है कि वह इस पुनर्जन्म को वांछनीय नहीं मानती रही है, इससे मुक्ति को ही वांछनीय मानती रही है। मुक्त हो कर यह अधिष्ठाता : आत्मा : कैसे रहता है, इस सम्बन्ध में भारतीय संस्कृति में भी कोई एक निश्चयात्मक धारणा नहीं है, किन्तु साधारणतः यही धारणा है

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



कि वह ईश्वर-भाव या ब्रह्म-भाव में रहता है। ऊपर उपनिषद्, महात्मा कबीर और महादेवी के जो पद दिये गये हैं उनमें इस ब्रह्म-भाव की ही आकांक्षा है। किन्तु वास्तव में उस भाव में यह अधिष्ठाता-भाव भी नहीं रहता, क्योंकि जिन वृत्तियों को यह अधिष्ठाता अधिष्ठित करता है वे वृत्तियाँ भी उस भाव में नहीं रहतीं—ऐसी मान्यता, या दृष्टि, या अभीप्सा इस भाव के सम्बन्ध में है। इस अभीप्सा के पीछे मृत्यु को भी कष्ट के रूप में देखना है और जीवन को, संसार में रहने को, भी प्रवास और कष्ट के रूप में देखना है। यदि मनुष्य की मृत्यु होती ही नहीं, या यदि उसमें यह धारणा नहीं होती कि वह मरने के बाद भी अशरीरी रूप में रहता है, तो सम्भवतः धर्म और जीवन के अर्थ का विचार आदि भी नहीं होते। धर्म-भाव का मूल मृत्यु-बोध में ही है, ऐसा भी कहा जा सकता है। वास्तव में देवता, ईश्वर आदि का विचार आत्मा की देहातीत सत्ता को पूर्वकल्पित करता है और आत्मा का इन दिव्य सत्ताओं से सम्बन्ध मनुष्य की मृत्यूपरान्त सत्ता या देहातीत सत्ता की अनुरूपता में ही देखा जाता है। इसके विपरीत वैज्ञानिक जब अन्य ग्रहों पर जीवन की कल्पना करते हैं तो वह जीवन केवल जैव अस्तित्व के रूप में ही कल्पित होता है और वह किसी धर्म-भाव से नहीं जुड़ता। धर्म का बहुत बड़ा प्रयोजन मनुष्य को मृत्यु के बाद के अस्तित्व के लिए तैयार करना है, इसलिए इस जीवन के कर्म उसमें पर-वर्त्ती जीवन की सापेक्षता में ही देखे जाते हैं : उसे ऐसा जीवन जीना चाहिए जो उसे मृत्यु के अनन्तर सुखपूर्वक रहने के योग्य बनाये, क्योंकि यह जीवन तो बहुत थोड़े समय का है, किन्तु काल तो निरवधि है, उस निरवधि काल में हम कैसे रहते हैं यह महत्त्वपूर्ण है, इस जीवन के सौ-पचास वर्ष तो कैसे भी काटे जा सकते हैं! धर्म बहुत दूर तक इसके लिए तैयारी की उपाय-व्यवस्था की ही संज्ञा है। कर्मों में उचित-अनुचित के विवेक का आधार भी बहुत कुछ इस बोध से ही जुड़ा है, यद्यपि आज इसे इस लोक की व्यवस्था में परिसीमित करने पर ही बल है। किन्तु आत्मा को देह से अभिन्न मानने पर यह विवेक अर्थ की गहराई खो देता है।[1] 'धर्म' का एक अर्थ 'वस्तु-स्वरूप' भी है—'पृथ्वी का धर्म', 'जल का धर्म', 'जीव-धर्म' इन प्रयोगों में 'धर्म' का अर्थ वस्तु का स्वरूप-स्वभाव ही है। ये सब : पृथ्वी, जल आदि : अपने स्वरूप-स्वभाव में तो सहज रूप में ही रहते हैं, किन्तु कुछ बाह्यारोप और मिश्रण भी इनमें हो सकते हैं। जैसे जल की स्वच्छता-अस्वच्छता, उसकी प्रवहमानता या स्थिरता, उसका सागराकार या गागराकार। ये जल के धर्म नहीं हैं, ये उसमें आगन्तुक होते हैं। ये उसके धर्म पर आंरोप भी नहीं कहे जा सकते, बल्कि कहा जा सकता है कि इन सब अवान्तर प्रसंगों को धारण कर सकना भी उसके धर्म का ही एक लक्षण है। अब धर्म को 'धर्म' शब्द के इस अर्थ में भी समझा जा सकता है—मनुष्य का मूल स्वरूप, वास्तविक स्वरूप-स्वभाव, जो इसके आरोपित पर-भावों से पृथक्करणीय है। मनुष्य के सन्दर्भ में इसमें केवल इतना भेद हो जाता है कि यहाँ इसका अर्थ 'मनुष्य का स्वरूप' भी है और उस स्वरूप के प्रापक उपाय और प्रयत्न भी। यद अन्तर इसलिए है क्योंकि मनुष्य में जलादि की तरह, या अन्य जीवों

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



की तरह भी, स्वरूप-स्वभाव स्वतःसिद्ध नहीं होता, बल्कि वह स्वतःसिद्ध होता है जो उसका स्वरूप-स्वभाव नहीं होता। उदाहरणतः जीव का स्वरूप-स्वभाव जीना और अपने जीवत्व को संवर्द्धित करना है, किन्तु मनुष्य का स्वरूप-स्वभाव यह नहीं है—"जीवेम शरदः शतं" की वैदिक प्रार्थना के बावजूद। निश्चय ही उसके जीव होने के कारण उसका जीवन को बनाये रखना और जीवन का संवर्द्धन करना भी आवश्यक है, आख़िर आत्मा के लोकावतरण और आत्मचरितार्थन का आद्य माध्यम यह देह ही है—किन्तु यह उसका मनुष्य के रूप में धर्म नहीं है। यदि वह जीव-धर्मी मात्र होता तो मृत्यु के साथ उसका भी अन्त हो जाता। किन्तु वह मृत्यु के साथ अपना अन्त नहीं देखता यह तथ्य इस बात को भी सिद्ध करता है कि वह जीव-धर्मी नहीं है।

मनुष्य का अपने स्वरूप या धर्म के सम्बन्ध में यह बोध सत्य भी है या कि यह उसकी केवल कल्पना है, यहाँ हम अभी इस प्रश्न पर विचार नहीं करेंगे, यहाँ केवल इतना देखना ही प्रासंगिक है कि मनुष्य ने मृत्यु को कभी अपना अन्त नहीं माना और मृत्यु के बाद के जीवन या अतिजीवन के लिए चिन्ता को कम-से-कम उतना, और कभी-कभी उससे भी अधिक, महत्त्व दिया जितना इस जीवन के प्रति चिन्ता को दिया। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि मनुष्य ने मृत्यु को अपने-आप से : निष्प्रयोजन : कभी वरणीय नहीं माना और इस प्रकार आत्महत्या को अवांछनीय और हेय ही माना, किन्तु किसी प्रयोजन से जीवन के उत्सर्ग को वरणीय, महत् और श्लाघ्य ही माना। इस श्लाघा में भी यह धारणा निहित है कि मृत्यु मनुष्य का अन्त नहीं है। बल्कि, इस प्रकार मृत्यु के वरण को अमरता का प्रापक कहा जाता है। यहाँ अवान्तरतः यह भी उल्लेखनीय है कि मृत्यु के साथ मनुष्य का अन्त मानने वाले विचारक किसी महत् प्रयोजन के लिए मृत्यु के वरण को कोई अर्थ नहीं दे सकते। उनके लिए जीवन किसी भी प्रकार से रक्षणीय होना चाहिए—अन्यों को जोखिम में डाल कर, विश्वासघात करके, आत्मसम्मान खो कर, किसी भी प्रकार से। निश्चय ही साधारणतः लोग यह मानते हुए भी कि मृत्यु मानव-अस्तित्व का अन्त नहीं है मृत्यु से बचना ही चाहते हैं, किसी भी प्रकार से, किसी भी शर्त पर। सब से भयावह मृत्यु ही मानी जाती है। किन्तु तब भी कुछ लोग होते हैं जो मृत्यु से बचने के लिए कुछ समझौते करने को तैयार नहीं होते। ऐसे लोगों का वे लोग भी सम्मान करते हैं जो इस प्रकार जीवन-उत्सर्ग नहीं कर सकते। यों ऐसे अवसर तो बहुत कम लोगों के जीवन में आते हैं जब जीवन को दाँव पर लगाने की परिस्थिति उपस्थित होती है, किन्तु जीवन में रहते हुए भी जैव प्रवृत्तियों का निरोध सब संस्कृतियों में सब व्यक्तियों के लिए और सब समय ही एक साध्य आदर्श माना जाता रहा है। इसके लिए कमल की उपमा दी जाती है जो पंक में उत्पन्न होता है किन्तु पंक के ऊपर रहता है : इसी प्रकार मनुष्य को भी संसार में रहना चाहिए। इसी से योगी, सन्यासी, फ़क़ीर इनका सब आदर करते हैं। यदि कोई राजा ही फ़क़ीर की तरह रहे तो वह और भी आदर का पात्र होता है। उपनिषद् के राजा जनक ऐसे ही थे। लोग विद्वान और कलाकार आदि का भी आदर करते हैं,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



किन्तु इसीलिए क्योंकि उनमें भी एक प्रकार की संसार से निष्कृति रहती है : वे प्राकृतिक-जैविक के स्तर के ऊपर मानसिक-आध्यात्मिक का स्तर प्राप्त करते हैं, इनके सम्बन्ध में लोगों में यह धारणा भी होती है कि ये निर्लोभी और सत्य-परायण भी होंगे। हमारे यहाँ ब्राह्मण के लिए विधान था कि वह भिक्षा से भोजन और वस्त्र प्राप्त करे और संपत्ति-विहीन रहे।

किन्तु संसार के प्रति इस भाव का औचित्य क्या है? मृत्यु का होना? सब चीज़ की नश्वरता? और सब से बढ़ कर उसकी अपनी नश्वरता जो अपने को संसार के केन्द्र में रख कर इसमें अपनी चरितार्थ्यता देखता है? यह सही है कि मृत्यु है, जरा है, रोग और शोक हैं। किन्तु जीवन भी है! शैशव, यौवन, उमंग, आकांक्षा, उत्साह आदि भी हैं। संसार का इतना बृहत् आयोजन, इतनी जटिल किन्तु तब भी इतनी सरल, इतनी सुन्दर और अद्‌भुत रचना, इसे क्या मृत्यु के कारण ही भुला दिया जाय? इसके विपरीत मृत्यु को इसके आत्म-सर्जन, आत्म-नवीकरण के अंग के रूप में ही क्यों नहीं देखा जाय? इसे ब्राह्म आनन्द की अभिव्यक्ति के रूप में क्यों नहीं देखा जाय? इसे आत्मा के ऊपर मायावरण-रूप क्यों देखा जाय? इसके प्रति वैराग्य, निष्कामता, मिथ्यात्व-दृष्टि के लिए क्या युक्ति है? इसके प्रति उमंग, उत्साह और आसक्ति का भाव क्यों उचित नहीं है? यहाँ जयशंकर प्रसाद की 'अशोक की चिन्ता' कविता का एक पद ध्यान में आ रहा है—

> जब पल भर का है मिलना, फिर चिर वियोग में झिलना,
> एक ही प्रात है खिलना, फिर सूख धूल में मिलना
> फिर क्यों चटकीला सुमन-रंग?

यह सम्राट् अशोक की कलिंग-विजय के बाद मृत्यु की विभीषिका से उद्विग्न मनःस्थिति की अभिव्यक्ति है। अब, यह सही है कि चारों ओर मृत्यु है, विरह है, दुःख है। किन्तु मिलन और मिलन की ललक भी है। यह सही है कि फूल एक ही दिन खिल कर मुरझा जाता है और धूलिसात् हो जाता है, किन्तु तब भी वह इतने सुन्दर और चटकीले रंगों में खिलता है और अनेकानेक फूलों को जन्म देता और उनमें फिर चटकीले रंगों के साथ खिलता है। वास्तव में विरह मिलन और मिलन की ललक का ही आश्रयी है, फूल धूल में मिल कर असंख्य फूलों में फिर खिल उठता है। यह नहीं भी हो तो भी वह उत्पन्न होता और खिलता है। कितनी अद्‌भुत उसकी रचना होती है, कैसे उसकी जिजीविषा पृथ्वी, जल, वायु और सूर्य-किरणों से तत्त्व सँजो कर बाहर फूट पड़ती है और वह तब बढ़ता और विकचता है! वह बाद में मुरझा जाता है तो क्या? यों भौतिक प्रकृति है जिसमें न जन्म है और न मृत्यु, जैव प्रकृति में जन्म-जरा-पीड़ा और मृत्यु का अपार प्रसार है, किन्तु तब भी जीवन और जीवन के लिए ललक है। यह ललक रूप, रस, गंध आदि की आस्वादक इन्द्रियों और उनके आस्वाद्य रूपों को जन्म देती है। यह सब मिथ्या और निरर्थक कैसे है? और फिर, यदि मृत्यु के साथ हम नष्ट नहीं होते, पुनर्जन्म लेते हैं, तब तो यह जीवन की और भी बड़ी विजय है! इससे तो केवल मृत्यु ही मिथ्या ठहरती है!

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



या फिर यह एक जर्जरता, शीर्णता और थकान के भाव से उबरने और आत्मनवीकरण का उपाय है! या फिर जीवन की सुदीर्घ यात्रा में एक पड़ाव!

यह सब व्याख्या युक्ति पर सही नहीं उतरती। एक तो इसमें यह मान लिया गया है कि पुनर्जन्म होता है, दूसरे यह कि सब वृद्ध हो कर, पूरी आयु बिता कर ही मरते हैं, जबकि ऐसा नहीं है। अकाल मृत्यु भी होती है और बहुत होती है। फिर रोग हैं जो जीवन को असह्य बना देते हैं! इसलिए मृत्यु केवल पुराने कपड़े उतारने जैसी बात नहीं होती, न यह यात्रा में पड़ाव जैसी बात ही होती है। यह सही है कि यदि पुनर्जन्म होता है तब मृत्यु जीवन की अनन्त यात्रा में केवल एक घटना ही रह जाती है, किन्तु एक नितांत असाधारण घटना, ऐसी घटना जिसमें प्राणी सहज रूप से केवल अपना अन्त देखता है और इसीलिए जिससे वह असाधारण भय अनुभव करता है। उन मनुष्यों को जाने दें जो इस जीवन को असह्य और असाध्य कष्टमय पाते हैं, या जो जीवन से अधिक किसी दूसरी बात को मूल्यवान् मान कर जीवन का उत्सर्ग करने को तत्पर होते हैं, शेष तो मृत्यु के उपस्थित होने पर असीम भय से आक्रांत ही देखे जाते हैं। इसका कारण यही है कि वे अन्य प्राणियों के समान सहज रूप में इसे अस्तित्व से नितांत अनस्तित्व में, शून्य में, विलय के रूप में ही देखते हैं।

वास्तव में पुनर्जन्म बहुत बड़ी सान्त्वना है भी नहीं, क्योंकि मृत्यु में इस जीवन के क्रम का तो नितान्त भंग हो ही जाता है। पुनर्जन्म को हम एक प्रकार से नींद से जागने के रूप में ही देखते हैं, इसी से इससे सान्त्वना का अनुभव करते हैं। महादेवी की ही एक कविता की पंक्तियाँ हैं—"खेल, खेल, थक, थक सोने दो, मैं समझूंगी सृष्टि-प्रलय क्या!" किन्तु वास्तव में पुनर्जन्म नींद से जागने जैसा नहीं होता, क्योंकि इसमें पूर्वजन्म के सब सम्बन्धों और स्मृतियों का अन्त हों जाता है। कोई इसके अपवाद भी होते हों तो उनसे यह नियम असिद्ध नहीं होता। यों कुछ लोगों के साथ ऐसा उसी जीवन में भी हो जाता है—पूर्ण स्मृति-नाश हो जाने पर व्यक्ति दूसरों के लिए चाहे 'वही व्यक्ति'. बना रहता है किन्तु अपने स्वयं के लिए वह 'वही' नहीं रहता। किन्तु पुनर्जन्म में दोनों के लिए बात बदल जाती है। इसलिए जो लोग पुनर्जन्म के स्वीकार से सान्त्वना अनुभव करते हैं वे कहीं-न-कहीं यह कल्पना करते हैं कि मृत्यु उनके अस्तित्व की कोई हानि नहीं करती, वह उन्हें बहुत कुछ पूर्णतः निःस्वप्न निद्रा से जागने जैसी बात ही लगती है, जो ठीक नहीं है।

यहाँ पुनर्जन्म के एक और रूप को देखें—पौधा जन्मता है, बढ़ता है, और मुरझा कर अनेक बीज बन जाता है। इन बीजों से फिर पौधे उत्पन्न होते हैं और वही क्रम फिर चलता है। दैहिक स्तर पर यह 'पुनर्जन्म' प्राणी मात्र में होता रहता है, यद्यपि यह 'उसी देह' का पुनर्जन्म नहीं होता, किन्तु उससे भिन्न भी नहीं होता, इसे उसका क्रमिक नैरन्तर्य भी आप कह सकते हैं। मनुष्य में इस क्रम को 'सन्तान' कहा जाता है और इस सन्तति को 'आत्मज' कहा जाता है। अब, यह नैरन्तर्य स्पष्ट और निश्चित होने पर भी इसे हम

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



'अपने' नैरन्तर्य के रूप में नहीं देखते और इससे वैसी सान्त्वना भी नहीं पाते। यह एक विचित्र बात है कि 'मृत्यु' देह का ही नाश है और देह के नैरन्तर्य की व्यवस्था प्रकृति ने देह के स्तर पर कर रखी है, किन्तु उस नैरन्तर्य को हम 'अपनी' अ-मरता या नैरन्तर्य के रूप में नहीं देख पाते। ऐसा मनुष्य में ही नहीं है, कृमि-कीट तक में भी है। उनमें व्यष्टि-देह ही उद्दीपनों के ग्रहण और प्रतिक्रिया का केन्द्र होती है, अपनी सन्तान पर आक्रमण से दैहिक स्तर पर उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। कुछ प्राणी तो अपने बच्चों को खा तक जाते हैं। इसे यों भी कह सकते हैं कि अस्मिता का अधिष्ठान जीव का अपना शरीर ही होता है जो जन्म, यौवन और जरा के क्रम से मृत्यु को प्राप्त होता है—उस अस्मिता का बोध मानवेतर जीवों में चाहे नगण्य ही होता है, यदि होता है तो। मानवेतर जीवों में इसे उचित रूप से अस्मिता की बोध-रहित विद्यमानता ही कहना चाहिए, जिस विद्यमानता के लिए जीव का ऐसा व्यवहार प्रमाण प्रस्तुत करता है। इसे 'अस्मिता-बोध' से भिन्न 'अस्मिता-भाव' कहा जा सकता है। यह अस्मिता जीव के देहेतर अस्तित्व और सत्त्व की द्योतक कही जा सकती है, क्योंकि अन्यथा तो दैहिक नैरन्तर्य न केवल बना रहता है बल्कि वृद्धि-लाभ भी करता है। यों जीव-कोशों में कोश ही एक से दो में बढ़ जाता है और इस प्रकार ये कोश दो से चार और चार से आठ हो जाते हैं। ये कोश ही जीव-मूल होते हैं। किन्तु उस स्तर पर इस अस्मिता की विद्यमानता भी उतनी ही क्षीण होती है, यदि कुछ होती है तो, और परिणामतः आत्मरक्षात्मक प्रतिक्रिया भी वैसी ही क्षीण होती है। इस अस्मिता का अंकुरण जीव-कोशों के एक अवयवी रूप में संरचित होने पर ही होता है, जो संरचना कोशों का योग-फल या गुणन-फल मात्र नहीं होती, बल्कि एक स्वतंत्र नियोजक सत्त्व होती है जिस से नियुक्त हो कर जीव-कोश विभिन्न प्रकार और विभिन्न विकास-स्तरों के चित्त-रूपों वाले या चित्ताभिव्यंजक देहों में संरचित होते हैं। इन देहों का नैरन्तर्य केवल कारण-कार्यात्मक नहीं होता बल्कि एक अस्मिता या चित्त से अध्युषित देह अपने ही जैसे दूसरे और स्वतन्त्र देहों का हेतु बनती है। इस अस्मिता को 'देही' तक कहा जाता है, अर्थात् देह को साधन या उपकरण के रूप में धारण करने वाला सत्त्व। यह देह जन्म से मृत्यु तक एक देही का अधिष्ठान रहती है और, ऐसा हम मानते हैं कि, यह देही इस देह की मृत्यु के साथ उसको छोड़ कर या तो अदेह रूप में प्रेत योनी में रहता है या दूसरी देह धारण करता है। इस कारण जैव नैरन्तर्य या सन्तान को देही का नैरन्तर्य नहीं माना जाता, एक देह की मृत्यु को उसकी परिसमाप्ति ही माना जाता है, क्योंकि सन्तान की देह अन्य देही की उपकरण होती है।

किन्तु देहोत्तर अस्तित्व का भाव और बोध केवल मानवीय स्तर पर ही परिलक्षित होता है, जिस स्तर पर चेतना अस्मिता का विषय-रूप में अवधारण कर पाती है, चाहे यह अवधारण कितना ही अस्फुट क्यों नहीं हो। इससे अवर स्तर पर अस्मिता अतिक्रामी अहंकार के रूप में जैव और चैत्त वृत्तियों की सहगामी मात्र होती है, उस स्तर पर अहंता के पृथक् अस्तित्व का बोध ही नहीं 'भाव' भी नहीं रहता। सम्भवतः भारतीय परम्परा के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



अतिरिक्त अन्य किसी परम्परा में मानवेतर जीवों में आत्मा होने का विचार भी नहीं है, इसलिए अन्य परम्पराओं के अनुसार उनके पुनर्जन्म, या मृत्यु के अनन्तर देही का अस्तित्व बना रहने का प्रश्न भी नहीं उठता। किन्तु भारतीय परम्परा में ये मानवेतर अस्तित्व नहीं हैं बल्कि मनुष्य की आत्मा की ही भोग-योनियां हैं।

किन्तु आत्मा के देहेतर और देहोत्तर अस्तित्व का अर्थ क्या है, यह अस्तित्व सम्भव कैसे है, इसमें आकांक्षा क्या है और मूल्य क्या, इस सब पर यहाँ हम संक्षेप में विचार करेंगे।

कुछ लोग आत्मा के अस्तित्व को इस कारण अस्वीकार करते हैं क्योंकि वह बाह्येन्द्रिय और अन्तरेन्द्रिय-ग्राह्य नहीं होता। किन्तु इन्द्रिय-ग्राह्यता अस्तित्व का प्रमाण है, इस धारणा के लिए भी प्रमाण की अपेक्षा है, इस पर वे विचार की आवश्यकता नहीं समझते, जो कि उचित नहीं है। एक दूसरा मत बौद्धों का है, जो बाह्येन्द्रिय-ग्राह्यता को तो अस्तित्व का प्रमाण नहीं मानते और चित्त-वृत्तियों का अस्तित्व स्वीकार करते हैं, किन्तु वे भी आत्मा का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते, उनके अनुसार केवल चित्त-वृत्ति-सन्तान का ही अस्तित्व है, 'आत्मा' संज्ञक किसी सन्तानेतर वस्तु का अस्तित्व नहीं है। किन्तु जैसा कि हमने पीछे संकेत किया, जीव मात्र में एक अहंता-अस्मिता का भाव होता है जो यद्यपि स्फुट नहीं होता किन्तु अतिक्रामी रूप में यह उसकी दैहिक सावयवता के और उद्दीपनों की प्रतिक्रियाओं के आधार के रूप में स्थित रहता है। इसे 'अहंकार' कहा जा सकता है, जो अतिक्रामी रहता है। किन्तु मनुष्य में यह अहंकार आत्मचेतना में विषय हो कर अहंता के स्फुट बोध का रूप लेता है। यह बोध ज्ञानात्मक और कर्मात्मक वृत्तियों में ज्ञातृत्वाभिमान और कर्त्तृत्वाभिमान के रूप में उनका अधिष्ठातृत्व ग्रहण करता है। इसी से स्मृतियाँ और प्रत्याशाएँ सम्भव हो पाती हैं और विशिष्ट व्यक्ति का अधिकार बनती हैं। 'यह अधिकारी या अधिष्ठान कोई वस्तु नहीं है और केवल वृत्ति-सन्तान की ही वस्तुता है' इस प्रतिपादन में कोई युक्ति नहीं है, क्योंकि यह अधिकारी उतना ही अपरोक्षतः ग्राह्य होता है जितनी इसकी अधिकृत वृत्तियाँ। यदि गहराई से देखा जाय तो वृत्तियाँ वास्तव में केवल अधिकारी के माध्यम से ही ग्राह्य होती हैं, अधिकारीत्व-रहित चेतना वृत्तियों के उद्दीपकों के अशेषतः अधीन रहती है, उसमें वृत्तियों का ग्रहण या प्रकाशन नहीं होता। इस प्रकार आत्मा के निषेध का कोई अर्थ नहीं बनता। वह अधिष्ठान और अधिकारी के रूप में अपरोक्षतः विदित रहता है और उसके अस्तित्व का यही स्वरूप और प्रमाण है। शेष किसी वस्तु के अस्तित्व के लिए ऐसा प्रत्यक्ष और निश्चित प्रमाण नहीं है, विज्ञप्तियों (चित्त-वृत्तियों) के लिए भी नहीं। देह भी चित्त की देह-वृत्ति ही है, इसलिए वह भी 'अधिकारी' के माध्यम से, उसकी अपेक्षा से ही, ग्राह्य होती है और इसकी यह ग्राह्यता ही इसके अस्तित्व के लिए प्रमाण होती है। इसलिए वास्तव में इन्द्रिय-ग्राह्य और भौतिक के रूप में अवधारित वस्तु का अस्तित्व आत्मा के देहेतर और देहोत्तर अस्तित्व को स्वतःसिद्ध और अपरोक्षतः गम्य प्रमाण मानने को पूर्वगृहीत करता है। इसके लिए शंकर और डेकार्ट की युक्तियां सर्वविदित ही हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



यहाँ आपत्ति हो सकती है कि यह आत्मा चित्त-वृत्तियों और वस्तुओं के अस्तित्व की पूर्वपिक्षा हो कर उनकी अपेक्षी भी हो जाती है, क्योंकि इसका यह अस्तित्व चित्त-वृत्तियों के अधिकारी के रूप में ही प्रकट होता है, चाहे यह अधिकारीत्व चित्त-वृत्ति-रूप नहीं हो। यह सही है, किन्तु इसका समाधान यह है कि ज्ञातृत्वाभिमान और कर्तृत्वाभिमान के रूप में इसकी विषयता जिस विषयी को प्रकाशित करती है और ये विषय (अभिमान) अर्थों के जिस आयाम को व्यक्त करते हैं वह इस आत्मा के अतिक्रामी और निरपेक्ष स्वरूप को प्रकट करता है।[2]

इस पर यहाँ कहा जा सकता है कि देह एक वृत्ति मात्र नहीं है, उसके रोग और वृद्धि-क्षय आदि के स्वतंत्र नियम हैं, उसकी वस्तुता का स्वरूप भी चैत्त वस्तुता के स्वरूप से भिन्न है : देह भौतिकता के नियमों के भी अधीन है जबकि चित्त भौतिकता के नियमों के अधीन नहीं है। यह सही है, किन्तु हम दैहिक अस्तित्व का निषेध नहीं कर रहे हैं, हम केवल इस अस्तित्व को अस्तित्व और सत् का प्रतिमान मानने की अयुक्तता दिखा रहे हैं। देह की स्वतंत्र वस्तुता अस्वीकार कर देने पर तो मृत्यु का प्रश्न ही समाप्त हो जाता है। यहाँ प्रश्न आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व का है। इसके सम्बन्ध में हमने देखा कि इसकी वस्तुता अपरोक्ष और परिणामतः सन्देहोपरि है, यह बात दूसरी है कि चेतना अधिकांशतः परोन्मुख और परायत्त रहती है और परिणामतः आत्मा अवगत ही नहीं रहती। सम्पूर्ण पाशव चेतना इसी अवस्था में है।

किन्तु इस पर कहा जा सकता है कि देह के आत्मा से स्वतंत्र होने पर और आत्मा की वस्तुता का स्वरूप देह की वस्तुता से भिन्न होने पर भी जीव की मृत्यु का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। इसका उत्तर होगा कि आत्मा की देहोत्तर वस्तुता के स्वीकार का, दैहिक मृत्यु के अनन्तर उसके अन्य लोक में बने रहने या पुनर्जन्म लेने के विचार का यही अर्थ है। श्रीमद्भगवद्गीता में जो आत्मा को अच्छेद्य-अक्लेद्य आदि कहा गया है उसके पीछे यही युक्ति हो सकती है। इससे मृत्यु का अर्थ केवल देह का क्षय रह जाता है, व्यक्ति के अस्तित्व का पूर्ण क्षय नहीं।

किन्तु इसमें कुछ आधारभूत कठिनाइयाँ हैं। प्रथम यह कि 'आत्मा के अस्तित्व' का क्या अर्थ है? दूसरे, देह के क्षय के उपरान्त जिस अस्तित्व में हम सान्त्वना खोजते हैं क्या आत्मा का अस्तित्व उस प्रकार का होता है? तीसरे, यदि वह अस्तित्व उस प्रकार का हो भी तो भी क्या वह सान्त्वना देने योग्य होता है? वास्तव में हमारा अन्वेष्य है क्या और उसे क्या होना चाहिए? ये सब प्रश्न हैं जो मृत्यु से जुड़े हैं। ये सब प्रश्न विस्तृत विचार की अपेक्षा करते हैं जो एक लेख में करना सम्भव नहीं है। इन पर हमने मूल्यतत्त्व-मीमांसा पुस्तक में विचार किया है, यद्यपि वहाँ विचार का मुख्य विषय मृत्यु नहीं है। यहाँ हम उस विचार को पृष्ठभूमि में रखते हुए इन प्रश्नों पर विचार करेंगे।

'आत्मा का अस्तित्व है' कहने में यह निहित है कि वह काल का विषय होती है। किन्तु हम उसे काल का विषय मानते हुए भी अक्षर और अमर मानते हैं। इस अमरता

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



को हम 'अनंत काल-स्थायिता' के रूप में कल्पित करते हैं। किन्तु वास्तव में वह अक्षर और अमर तभी हो सकती है यदि वह देश और काल के विशेषणों से रहित हो, वह 'काल-स्थायी' नहीं हो कर काल की विषय ही नहीं हो। अब, देश और काल की अविषय होने पर वह उस अर्थ में 'वस्तु' भी नहीं रहती जिस अर्थ में देह और चित्त वस्तुएँ होते हैं। देह जबकि देश और काल का विषय होती है, चित्त केवल काल का विषय होता है। किन्तु आत्मा को हम देह की नश्वरता के विपरीत 'अमर' कह कर देह की ऐसी छाया के रूप में कल्पित करते हैं जो भौतिकता और चैतसिकता के नियमों की विषय नहीं होती। किन्तु वास्तव में आत्मा का स्वरूप यह नहीं है। तब आत्मा का क्या स्वरूप है?

हमने पीछे देखा, प्रत्येक जीव में एक बोध-रहित अस्मिता का भाव रहता है। इससे भी पूर्व अतिक्रामी अहंकार की विद्यमानता की बात भी हमने की, जो जैव देह की व्यष्टिक रचना और चित्तवृत्तियों की व्यष्टिक विशिष्टता का हेतु कहा जा सकता है। यही अहंकार चित्त में अस्मिता-भाव रूप में व्यक्त होता है। यह 'भाव' मानवेतर जीवों में बोध-रहित होता है। यह चेतना की अनात्मचेतन अवस्था है। मनुष्य में यह चेतना आत्मचेतनता-लाभ करती है। आत्मचेतना एक अत्यन्त विचित्र स्थिति है। प्रकटतः यह चेतना का आत्मविषयकरण है, किन्तु वास्तव में यह इसकी विपरीतता है—यह चेतना द्वारा विषय को बहिष्कृत कर प्रत्युपस्थापित करना है। यह बहिष्करण चेतना द्वारा विषय से मुक्त हो कर अपने पर लौटने से सम्भव होता है। किन्तु यहाँ जो एक दूसरी और नितान्त विचित्र बात घटित होती है वह यह कि इसमें चेतना—संवेद, संवेग, भाव और बोध सब—स्वयं अपने को विषय-रूपेण प्रत्युपस्थित होती है। किन्तु इसकी यह विषय-रूपता चेतन-रूपता नहीं होती। इसकी चेतन-रूपता के लिए यदि कहें कि यह इनके ज्ञापक या प्रकाशक के रूप में अविदित रहती है तो यह अयुक्त नहीं होगा। उपनिषद् में जो 'यन्मनसा न मनुते, येनाहुर्मनोमतम्' आदि ब्रह्म के लिए कहा गया है वह एक दूसरे प्रकार से चेतना मात्र के लिए ही कहा जा सकता है। वेदान्त में ज्ञान-स्थिति को त्रिपुटी कहा गया है, अर्थात् ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय (विषय) का त्रित्व। इसका अर्थ यही हुआ कि ज्ञाता और ज्ञान ज्ञेय नहीं होते, क्योंकि ज्ञेय होने के लिए उन्हें अपना ज्ञातृ और ज्ञप्ति रूप छोड़ कर ज्ञेय (विषय) रूप में रूपान्तरित होना होता है। किन्तु तब ज्ञाता और ज्ञान की बात ही कैसे उठती है? विश्लेषण से? अर्थात् ज्ञेय का विश्लेषण करने पर हम पाते हैं कि इसमें पूर्वापेक्षा के रूप में कुछ और भी निहित है और वह ज्ञाता और ज्ञान है? किन्तु यह सही नहीं है, क्योंकि ज्ञाता और ज्ञान शब्द-वाच्य तभी बन पाते हैं जब वे विषय-रूप में रूपान्तरित हो जाते हैं, अन्यथा वे पूर्वापेक्षा के रूप में भी ग्राह्य नहीं हो सकते।

यह प्रश्न बहुत विस्तृत विमर्श की अपेक्षा करता है जो यहाँ हम नहीं कर सकते।[3] यहाँ हम केवल इतना ही कहना चाहेंगे कि चेतना को विषय ज्ञेय रूप में तभी उपलब्ध हो पाता है जब वह विषय से अपने को मुक्त कर अपने पर लौट पाती है। इस निवर्तन

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



में वह अपने को अविषयतया ही पाती है यद्यपि वह इस लब्धि को विषय-रूप में भी रूपान्तरित कर सकती है, बल्कि कहें कि वह सहज रूप में ऐसा किये ही रहती है। इस विषयि-विषयता-यौगपद्य में ही अस्मिता अस्फुट भाव-रूपता से स्फुट बोध-रूपता प्राप्त करती है।

आत्मचेतन चेतना के सब विषय प्रत्ययात्मक या प्रत्ययमूलक प्रत्यक्षात्मक होते हैं। प्रत्यय की परिभाषा 'चेतना का अर्थात्मक उन्मेष' की जा सकती है,[4] जो उन्मेष विषयों का अवगाह्य और विवेच्य तत्त्वों के रूप में साक्षात्कार करता है। विषय पक्ष में आत्मा भी इसी प्रकार ईषत् उन्मीलित तत्त्व के रूप में ही ग्राह्य होता है और आत्म-विचार और विवेचन में अपने अर्थ का अवगाहन करता है, विषयी रूप में यह इस उन्मेष के स्रोत के रूप में आत्म-भावित या आत्म-प्रकाशित रहता है।[5] किन्तु चेतना सहज रूप में अपने को विषय के माध्यम में ही पाती है इसलिए अपनी विषयिता में आत्मा का बोध उसी सीमा तक रहता है जिस सीमा तक चेतना विषयता से निवर्त्तित होती है। पाशव चेतना अनात्मचेतन होने से आत्मा को विषय रूप में भी नहीं पा सकती और विषयिता में उसके बोध के लिए उसे विषयता में पाना अनिवार्य पूर्वपेक्षा होने से विषयी के रूप में भी नहीं पा सकती। मानव-चेतना में यह विषय रूप में सहज उपलब्ध रह कर भी अधिकांश में अपने विषयि-पक्ष से निष्कृत रहती है। विषय-पक्ष में आत्मा अन्य विषयों की अधिष्ठाता के रूप में, किन्तु अनिवार्यतः उनकी सापेक्षता में ही उपलब्ध होती है। किन्तु इस अधिष्ठातृत्व में जबकि यह अहंकारमूलक होती है, इसकी विषयता इसे प्रत्यय के रूप में अहंकार-मुक्त भी करती है। यह मुक्ति इसे स्वयं को अन्य अहंकारियों के साथ एक अहंकारी के रूप में अवधार्य बनाती है और इस प्रकार इसे अहंकारातिक्रमण की योग्यता देती है। इसकी यह योग्यता ही न्याय और अन्य समाज-धर्मों की आधार होती है। इस प्रकार आत्मा की विषय-रूप में अवधार्यता इसे अहंकार-मुक्त करती है। वास्तव में विषय मात्र की ही विषयता में अवधार्यता चेतना की विषय-भाव से मुक्ति की सापेक्षता में होती है। किन्तु जब यह विषय स्वयं आत्मा ही हो तब यह मुक्ति विशेष अतिशय होती है। यह अवधेय है कि इसी कारण न्याय का मूल बोध मनुष्य में प्रायः सर्वत्र मिलता है, वह सर्वत्र और सर्वदा पूर्ण स्पष्ट नहीं होता, यह बात दूसरी है। उदाहरण के लिए भारत में ब्राह्मण और शूद्र के लिए पृथक् दण्ड-नियम, यूरोप में श्वेतों की अश्वेतों पर उत्कृष्टता की धारणा, जिसका कुरूपतम रूप 19वीं और 20वीं शताब्दी के आरम्भिक दशकों में इन के अफ्रीकियों के साथ व्यवहार में परिलक्षित होता है, ये न्याय-बोध की उपहितता के द्योतक हैं, किन्तु तब भी इनमें न्याय का मूल बोध विद्यमान है, पशु-जगत् के समान इसका अभाव नहीं है, जैसा कि इनकी कानून-व्यवस्था से देखा जा सकता है। पूर्णतः अनुपहित न्याय-बोध पूर्णतः निरहंकारी आत्मा में ही सम्भव है। यही बात कर्त्तव्य-निर्णय और वरण के अन्य प्रसंगों में भी होती है। यह अहंकारातिक्रान्त आत्मा उसी आत्मा के आविर्भाव की तरतमता में व्यक्त होती है जो जैव स्तर पर अहंकार-मूलक अस्मिता-भाव-रूप होती है। आत्मा के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



आविर्भाव में इस तारतम्य से द्योतित होता है कि आत्मा अपने निराविल रूप में चेतना की साधना का चरम लक्ष्य है और इसका यह स्वरूप निर्वैयक्तिक, निर्बाध और सर्वात्मक : निज-पर-भेद-रहित : होता है। लक्ष्य और साध्य होने से यह भूतवस्तु-रूप नहीं होती, किन्तु तब भी अपने विषयिता और विषयता दोनों पक्षों में यह अतिक्रान्त सत् होती है।

स्पष्ट है कि इस आत्मा का पुनर्जन्म नहीं हो सकता, क्योंकि पुनर्जन्म का सम्बन्ध देहौपाधिक और देहाकांक्षी आत्मा से ही हो सकता है। निराविल आत्मा व्यष्टिकता मात्र से मुक्त होती है और जन्म व्यष्टिक देह और व्यष्टिक चित्त रूप में ही हो सकता है। चिन्तन की भारतीय परम्परा में मुक्त आत्मा के जन्म नहीं लेने और केवल बद्ध आत्मा के ही पुनर्जन्म लेने की दृष्टि बहुत प्राचीन है। किन्तु इसका अर्थ तो हो जाता है कि पुनर्जन्म आत्मा नहीं उपाधियाँ ही लेती हैं। वास्तव में प्राचीन दृष्टि में यह भी निहित है। महात्मा बुद्ध दुःख-स्कन्ध के समुदय को और वेदांती तथा सांख्य-मतानुयायी अविवेक या अविद्या को ही पुनर्जन्म का हेतु मानते हैं, वास्तव में बौद्ध तो अविद्या को उपादान भी मानते हैं। सो ठीक, किन्तु इस का अर्थ हो जाता है कि पुनर्जन्म आत्मा का नहीं होता, वह एक जन्म से दूसरे जन्म में संक्रमित नहीं होती, अविवेक या अविद्या ही संक्रमित होती है। किन्तु गीता में आत्मा का ही पुनर्जन्म कहा गया है और वास्तव में यही सामान्य धारणा भी है। वेदान्त और साँख्य में भी वास्तव में अविद्या को पुनर्जन्म का हेतु ही माना गया है, उनके अनुसार भी पुनर्जन्म में संक्रमित आत्मा ही होता है जो अविद्या से उसी प्रकार आवृत रहता है जैसे घट से आकाश।

किन्तु यह सिद्धान्त-दृष्टि से सही नहीं है। जैसा कि हमने पीछे देखा, मानव-व्यक्ति आत्मविषयकरण के द्वारा व्यष्टिकता का अतिक्रमण करता है और दृष्टि के विस्तार और वासनाओं पर विजय के द्वारा वह आवरण से किसी भी सीमा तक मुक्त हो सकता है। 'बुद्ध की रचना-कायता' की अवधारणा में इस विजय की पूर्णता का ही ख्यापन है। अपवादों को छोड़ कर, मनुष्य आविल आत्मा के रूप में ही रहता है। सो, सम्भव है वह इस सोपाधिक आत्मा के कारण ही पुनर्जन्म लेता हो। इसमें कुछ असम्भवता नहीं है। इस प्रकार यह विचार युक्तियुक्त लगता है कि पुनर्जन्म यह आत्मा ही लेता है जब तक यह उपहित रहता है। अनुपहित आत्मा साध्य अवस्तु होने से और स्वरूपतः निर्वैयक्तिक और निरवधि होने से जन्म-मरण का विषय नहीं हो सकता। इस प्रकार उसकी खोज वास्तव में *अमर जीवन* की खोज नहीं हो कर *पूर्ण मृत्यु* की खोज है जो अमरता भी है।[6]

दैहिक मृत्यु का तथ्य इस दृष्टि-लाभ का प्रथम हेतु बनता है। मृत्यु जीवन की, जीव के अस्तित्व की, आगन्तुकता प्रकट करती है। जीवन का अर्थ है रूप-रस-गन्ध आदि का अस्तित्व और इनसे आसक्ति का अस्तित्व, पुत्र-कलत्र-मित्र-शत्रु आदि सम्बन्धों तथा प्रभुता, सम्पत्ति और कीर्त्ति आदि में आसक्ति का अस्तित्व। साधारणतः आत्मा अपनी सार्थकता इनसे आसन्नता और इनमें सफलता में ही पाता है। यह चेतना में सहज जैव अतीत का प्रलम्बन है। किन्तु आत्मा की सिद्धि चेतना को इस अतीत से उबरने पर ही होती है और

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



यह उबार जैव अन्वेषणों की उस लाभ में बाधकता प्रदर्शित करता है जिस लाभ के लिए चेतना अपने सुदीर्घ इतिहास में सतत प्रयत्नशील रह कर आत्मचेतनता के स्तर पर पहुँची है। यों इन अन्वेषणों की निरर्थकता इन पर विचार मात्र से भी प्रकट हो सकती है, किन्तु मृत्यु का बोध रूप में चेतना में भाव के स्तर पर प्रवेश इनकी आगन्तुकता और निरर्थकता को चेतना में अपरोक्ष साक्षात्कार के रूप में अन्तःप्रतिष्ठित कर पाता है। श्मशान-वैराग्य एक साधारण अनुभव है, किन्तु वह दृष्टि और स्थायी भाव का रूप नहीं ले पाता। इस पद का प्रयोग इसी अर्थ में होता है। इसके विपरीत बुद्ध को जरा और मृत्यु के दर्शन ने अन्तस् की अतलता तक आलोड़ित कर दिया था। उनका राज्य और पुत्र-कलत्र का त्याग मृत्यु-तत्त्व के इस अन्तःसाक्षात्कार का प्रतीक मात्र है। इस साक्षात्कार के अनन्तर कोई इन सम्बन्धों को छोड़ कर कहीं अन्यत्र जाए, यह आवश्यक नहीं रहता। सम्राट् अशोक कहीं नहीं गए। *जाना* एक बाहरी बात है, कोई वहीं रहे तो भी ये सम्बन्ध उसके लिए समाप्त हो जाते हैं। यह केवल भाव-परिवर्तन की बात है। मृत्यु तब आसक्ति मात्र की निरर्थकता की द्योतक हो जाती है। किन्तु 'आसक्ति की निरर्थकता' का अर्थ रूप-रस-गन्ध आदि की और पुत्र-कलत्र आदि सम्बन्धों की निरर्थकता नहीं है, ये सौन्दर्यात्मक और नैतिक अर्थों के वाहक भी हो सकते हैं, किन्तु ये आत्मा के स्थानीय के रूप में पर्येष्य हो जाएँ, यह बात भयावह होती है। यों इन अन्वेषणों में भी स्तर-भेद होता है। पुत्र से पुत्रत्व के निमित्त से सहज प्रेम और पुत्र से अपनी सुविधाओं के साधक के रूप में प्रेम में अन्तर है और इन में प्रथम आत्मा के अपेक्षाकृत निकट स्थिति देता है। किन्तु इस प्रेम का अतिक्रमण, इसकी निरपेक्ष रूप से सर्वोन्मुखता, यह एक सर्वथा दूसरी बात हो जाती है। इनमें उत्कर्षापकर्ष का मानदण्ड वही आत्मा का व्यष्टिक अहंकार से उन्नयन है। मृत्यु-बोध इस उन्नयन में प्रतिष्ठित करता है।

यहाँ आपत्ति हो सकती है कि ममत्व से यह मृत्यु-बोध-जन्य उन्नयन जीवन से निष्कासन देता है। 'भज गोविन्दम्' का उपदेश 'अंगं गलितं पलितं मुण्डम्' हो जाने पर तो सही है किन्तु जीवन के उद्दाम प्रवाह के रहते इसे युक्त नहीं कहा जा सकता। सार्थकता का प्रश्न इस प्रकार रखने पर सभी कर्म, सभी भाव, सभी मूल्यान्वेषण सन्देह के घेरे में आ जाते हैं। इसके लिए कबीर का एक पद उल्लेखनीय है—

माया महा ठगिनी हम जानी।  
तिरगुन फाँस लिए कर डोले, बोले मधुरी बानी,  
... ... ...  
जोगी के जोगिन ह्वै बैठी, राजा के घर रानी,  
काहू के हीरा ह्वै बैठी, काहु के कौड़ी कानी।

यह अन्वेषण मात्र का मिथ्यात्व ख्यापित कर देता है—स्वार्थान्वेषण का उतना ही जितना परार्थान्वेषण का, लोकान्वेषण का उतना ही जितना अतिलोकान्वेषण का। यह सही है, इसमें सभी आसक्तियों के मिथ्यात्व का ख्यापन है और सहज रूप में आसक्ति ही जीवन है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



किन्तु दूसरी ओर यह भी सही है कि चेतना द्वारा आत्मा की खोज की यही दिशा है। आसक्ति या लोक-निमग्नता चेतना का जैव भाव में आत्म-प्रवास है जिससे उन्मग्नता की सिद्धि का अनवरत प्रयत्न इसे आत्म-चेतना की स्थिति तक लाया है, जो आत्मचेतना चेतना की आत्मोन्मुखता और आसक्ति से उन्मग्नता का प्रथम सोपान है। मृत्यु-बोध वास्तव में आत्मा के लोक-भाव में, लोकासक्ति में आत्मप्रवास से पूर्ण निवर्तन की सिद्धि ही है। इसी रूप में मृत्यु भयोत्पादक नहीं रहती, वह आनन्द की पर्याय हो जाती है।

वास्तव में लोक में ऐसा कोई अनुसरण और लाभ नहीं है जो पीछे छूंछा, निरर्थक और उपहासास्पद दिखायी नहीं देता। जिस वस्तु या स्थिति के लाभ को हम जीवन के परम प्राप्य के रूप में देखते हैं वह प्राप्त हो जाने पर हम अपने को वहीं का वहीं पाते हैं, बल्कि अमृतत्व के लक्ष्य को और भी दूर पाते हैं और उसी प्रकार के दूसरे लक्ष्यों की ओर अनुधावन करते हैं। यदि हम किसी लौकिक लक्ष्य को निरपेक्षतः साध्य मानते हैं तो हम नहीं तो दूसरे देख पाते हैं कि हमारी स्थिति कितनी उपहासास्पद है। विश्वविजय के अभियान में सफल रहने पर हिटलर शायद उससे कहीं अधिक विपन्न होता जितना वह पराजित हो कर रहा। राम के हाथों हत हो कर रावण का यह बोध कि वह धन्य हुआ, अन्वेषणों की इस निरर्थकता का ही बोध है। अधिकांशतः हम मरणासन्न होने पर भी यह दृष्टि नहीं पाते, इस या उस कार्य के अधूरा रह जाने में ही अपना अधूरापन देखते हैं। किन्तु जिन का बोध जग जाता है उनके लिए इन पूर्त्तियों की कामना की मृत्यु ही उनका परम लाभ होती है। बहुत लोग हैं जो हमारे इस भाव को नकारात्मक, ऋणात्मक, पराजय-वृत्तिक पायेंगे। उनके लिए कबीर पुनः उल्लेखनीय हैं—

सुखिया सब संसार, खावै औ सोवै।
दुःखिया दास कबीर, जागै औ रोवै।

पर खाने और सोने मूलक यह सुख कितना दारुण दुःख है यह वे ही देख पाते हैं जो जागते और रोते हैं। किन्तु तब भी इसमें संदेह के लिए अवकाश रह जाता है—जीवन अपने-आप में मूल्यवान् है क्योंकि सब अर्थों के चरितार्थन का यही साधन है। इसके होने पर ही चेतना भौतिक और जैविक अस्तित्व के अंधकार से आत्मा के प्रकाश में मुक्ति-लाभ करती है, जीवन है तो अपार अर्थ-राशियों का उन्मेष होता है, सम्भावनाओं का अनन्त आकाश अस्तित्व में आता है और हेय तथा उपादेय का विवेक जन्म लेता है, और इसी में आत्मा अपने से अपनी दूरी के निवारण की आकुलता अनुभव करती है। और फिर, सब कुछ निरर्थक नहीं हो सकता, क्योंकि निरर्थकता सार्थकता का प्रतीप है। निरर्थकता सार्थकता के प्रकाश में ही अपनी निरर्थकता प्रकट करती है। और फिर यह कैसी अद्भुत बात है कि निरर्थक पर्येषणाएँ भी होती हैं और फिर इनकी निरर्थकता प्रकट होती है। निरर्थकता और सार्थकता वास्तव में आत्मा की हानि और आत्मा के लाभ के ही वाचक हैं। और यह आत्मा का लाभ क्या है? आत्मा अपने से दूर, आत्म-प्रवासित क्यों और कैसे होता है? किसी भी कारण से यह हो किन्तु अर्थ-सृष्टि तो इसी व्यवधान

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



के निवारण के क्रम में, आत्म-लाभ के प्रयत्न के क्रम में ही होती है और यह जीवन के होने पर ही सम्भव है, मृत्यु तो प्रयत्न के लिए कोई अवकाश ही नहीं रहने देती।

यह सही है। किन्तु हम जीवन का निषेध नहीं कर रहे हैं, इसी से देह के नाश को और इस प्रकार आत्म-हत्या को वरणीय नहीं कह रहे हैं। हम उन विचारकों के साथ भी नहीं हैं जो सदेह मुक्ति को सम्भव नहीं मानते। हम उनके साथ हैं जो देह के 'रचना-देह' में रूपान्तरण को साध्य मानते हैं। मृत्यु-बोध यही है। यह बोध हो जाने पर जैव देह की मृत्यु एक अवान्तर बात हो जाती है और इसका पुनर्जन्म अनेष्य।

किन्तु इस निष्कर्ष में एक स्पष्ट और आधारभूत दोष दिखाया जा सकता है : जगत् आख़िर है और यह एक अनन्त और अगाध आयोजन है। इसकी प्रतिष्ठा जगद्वासना या जगद्भाव में ही है—सोऽकामयत बहुस्याम् : ब्रह्म-अंड का विस्फोट और उसकी पूर्णतः व्यवस्थित विराट् ग्रह-नक्षत्र मण्डल रूप में और अनन्त सूक्ष्म अणु-परमाणु मण्डलों के रूप में वितति, फिर उसमें प्राण का उद्रेक और इसके द्वारा भोग और आसक्ति का प्रादुर्भाव, भोग और आसक्ति की इस प्रवृत्ति के लिए यद्यपि सीमित किन्तु अनन्त विविध, जटिल और कुशल तंत्र की रचना, इस सब की अर्थमयता सन्दिग्ध कैसे हो सकती है? अवश्य इसमें पीड़ा और मृत्यु भी हैं, किन्तु ये इस आयोजन में उपाय-कौशल जैसे ही लगते हैं। पीड़ा और मृत्यु व्यष्टि-प्राणी के पक्ष से है किन्तु व्यष्टि-प्राणी भोक्ता और भोग्य के रूप में भोक्तृ भाव की सिद्धि के उपकरण मात्र ही प्रतीत होते हैं। हम मनुष्यों के जीवन की अवधि कई वर्षों की है, किन्तु ऐसे जीव भी हैं और असंख्य, जिनकी जीवन-अवधि केवल क्षण भर की ही होती है। वहां जीवन क्या और मृत्यु क्या? जहां जीवन-अवधि कुछ दीर्घ है वहां भी जीना और मरना नितान्त गौण है—अपार जिजीविषा और जीने के अकल्पनीय रूप से कुशल उपायों के आविष्कार के बावजूद। सब जीव एक-दूसरे के खाद्य हैं। अधिकांश पक्षियों को अण्डों में ही दूसरे पक्षी या अपक्षी खा जाते हैं। ऐसा ही अन्य जीव-रूपों में भी है। स्थायी केवल भोग-वृत्ति है जिसमें खाने और खाये जाने वाले जीव उपकरण मात्र बनते हैं। उसमें न पीड़ा का कोई अर्थ है और न मृत्यु का। ऐसे में जीवात्मा और उसके जन्म-जन्मान्तर में संक्रमण का कोई अर्थ नहीं रह जाता। इसी क्रम में मनुष्य भी है, जिसमें यह भोगवृत्ति, जगत्प्रवृत्ति और जगदासक्ति अत्यधिक प्रवर्धित, विस्फुट और समृद्ध रूप में प्रकट होती है। इसके लिए मृत्यु एक विशिष्ट घटना है क्योंकि इसके लिए व्यष्टि अपनी अस्मिता में और उसका जीवन अपनी व्यष्टिता में विस्फुट रूप में अवधार्य अवस्थितियां हैं। जगत् के इस चित्र-पटल पर, इस अर्थ-योजना में जीवन का अर्थ सन्देहास्पद कैसे हो सकता है? सन्देहास्पद केवल मृत्यु का अर्थ है जो भोक्तृ भाव की उपाय-व्यवस्था में एक साधन भर प्रतीत होती है। किन्तु जगत् तो भूमा का जगद्भाव है, इसमें व्यष्टि का निजी अर्थ क्या? चिड़िया द्वारा खाये जाने वाले चींटे की मृत्यु का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



क्या अर्थ? केवल उसके जीवन का अर्थ है—किसी दूसरे जीव को खाने और चिड़िया का खाद्य होने के रूप में! यही अर्थ क्या मनुष्य के भी जीवन और मृत्यु का नहीं है?

किन्तु जैसा कि हमने पीछे देखा, मनुष्य के जीवन और मृत्यु के अर्थ में कुछ भेद है, कुछ आधारभूत भेद। निश्चय ही मनुष्य जगत् का अंग भी है, उसी की एक अवस्था। किन्तु जगत् की यह अवस्था अपनी पहले की अवस्थाओं से आधारभूत रूप से भिन्न भी है। यह अवस्था भोक्तृत्व के साथ प्रेक्षकत्व से भी सम्पन्न है और इस प्रकर कर्त्तृत्व से भी। इस प्रकार यह जगद्गत भी है और जगत् से बाहर भी। इस प्रेक्षकत्व के कारण ही इस जीव में आत्मा का आविर्भाव और इस जगत् के और आत्मा दोनों के स्वातिक्रामी होने के बोध का आविर्भाव होता है।

किन्तु जगत् का यह स्वरूप जगद्भाव की सार्थकता को, प्राणी के रूप में हमारे इष्ट अर्थों की सार्थक्ता और अन्वेष्यता को, सन्देहास्पद कैसे सिद्ध करता है? इस सार्थकता-निरर्थकता का निकष क्या है? जिस काम से जगत् की उत्पत्ति हुई वह काम और उसका कार्य यह जगत् अपने अर्थ में सन्देहास्पद कैसे हो सकते हैं? जगत् की मानवावस्था, अथवा कहें चेतना की वह अवस्था जिसमें भोक्तृत्व के साथ प्रेक्षकत्व भी है, इस काम के अर्थ को भी विपुलित ही करती है और इस जगत् के अर्थ में ऐसे नये आयाम जोड़ती है जो एक दूसरी जगत्-सृष्टि के हेतु बनते हैं। इसलिए इस अवस्था का, अतिक्रमणात्मकता का, आविर्भाव जगत की सार्थकता को संदेहास्पद कैसे सिद्ध कर सकता है? काव्य में नायिका-भेद और भैषज्य में वाजीकरण के उपाय भी आत्मचेतन चेतना के अर्थान्वेषण के ही रूप हैं और ये जगद्भाव को ही विपुलित करते हैं। इन अर्थों की सन्देहास्पदता का क्या निकष और इस निकष की क्या प्रामाणिकता हो सकती है?

जैसाकि हम देखते हैं, मनुष्य में जगत् की, जगद्भाव-जगदाकर्षण की सहज प्रवृत्ति है। यद्यपि उसमें चेतना का आत्मचेतन होना उसे सहज रूप में जगत् से बाहर प्रतिष्ठित करता है जिससे उसके लिए जगत् विवेच्य विषय के रूप में रूपान्तरित हो जाता है, किन्तु जैसा कि हमने अभी पीछे देखा, उसकी यह विवेच्यता उसे काम्य विषय के रूप में भी प्रस्तुत कर सकती है और वास्तव में यह उसे अधिकांशतः उसी रूप में प्रस्तुत करती भी है, जिससे मूल जगत् के ऊपर एक दूसरे जगत् की सृष्टि होती है जिसे हम सभ्यता और संस्कृति कहते हैं। निश्चय ही मनुष्य इस अतिभाव (जगद्बहिर्भाव) में धर्म और मोक्षपरक अर्थों का भी साक्षत्कार करता है, किन्तु उसका मुख्य अभिनिवेशक तो काम ही रहता है। इसी से जगद्व्यापार चलता है और सभ्यताओं और संस्कृतियों का विकास होता है। तब इस अभिनिवेश में सन्देह के लिए क्या आधार?

इसका उत्तर हो सकता है कि भोगपरक अर्थों के समान ही धर्म और मोक्षपरक अर्थों का साक्षात्कार भी मनुष्य को होता ही है। इस साक्षात्कार का आधार आत्मा की प्रस्तुति, अस्मिता बनती है। आत्मचेतना के सब विषय अपने प्रत्यय की सापेक्षता में प्रस्तुत होते हैं, जो प्रत्यय उनके निकष बनते हैं। इन प्रत्ययों को हमने अन्यत्र आदर्श स्वरूप भी कहा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



है। ये निकष या आदर्श स्वरूप विवेक के साक्षात्कार्य होते हैं, यह साक्षात्कार चाहे कितना भी अस्फुट क्यों नहीं हो। निकष की यह अनिवार्य सापेक्षता नहीं होती तो प्रत्येक प्रस्तुत विषय आत्मपर्यन्त और आत्मपर्याप्त रूप में प्रस्तुत होता। आत्मा भी इसी प्रकार अपने निकष या आदर्श स्वरूप की सापेक्षता में ही प्रस्तुत होता है। यों यह आत्मा काम (और अर्थ मूलक) अर्थों या विषयों के अभिमानी के रूप में ही प्रस्तुत होता है किन्तु इसके अपने शुद्ध स्वरूप का आभास भी कभी होता है—कुछ को अधिकांश में और अतिशय होता है। मृत्यु-बोध इसमें सहायक बनता है। यह बोध जगद्भाव पर बहुत गहरा और प्रवल प्रश्न-चिह्न लगा देता है। यह बात दूसरी है कि अधिकांश को यह बोध होता ही नहीं या नितान्त क्षण-स्थायी होता है, उनके लिए राग और आसक्तियां ही अर्थों को परिभाषित करती हैं। ये असक्तियां सूक्ष्मतर और गहनतर अर्थों की दर्शक और प्रापक भी हो सकती हैं, जैसे उत्कृष्ट काव्य में, उत्कृष्ट राज्य-व्यवस्था और उपयोगी ज्ञानान्वेषण में, किन्तु ये ःतर भी पर्यन्तगामी दृष्टि के सम्मुख अपनी सार्थकता सिद्ध नहीं कर पाते। महात्मा कबीर के ऊपर उल्लिखित 'माया महा ठगिनी हम जानी' पद में इसी पर्यन्तगामी दृष्टि का संकेत है। यह दृष्टि ही मृत्यु-बोध है। यही बोध अमृतत्व का प्रापक, आनंद का हेतु और प्राणों में पाहुन के अवतरण का द्वार बनता है।

## सन्दर्भ

1. नैतिक-बोध पर हमने समाज : दार्शनिक परिशीलन तथा मूल्यतत्त्व-मीमांसा पुस्तकों में विस्तार से विचार किया है।
2. इस विषय पर विस्तार से चर्चा चिद्विमर्श अ. 1 में, सत्ताविपयक अन्वीक्षा अ. 7, 9 में, और मूल्यतत्त्व-मीमांसा अ. 1, 10-12 में की गई है।
3. इन प्रश्नों पर विस्तृत विचार के लिए सत्ताविपयक अन्वीक्षा का अ. ७ द्रष्टव्य।
4. ध्यातव्य है कि 'प्रत्यय' की यह परिभाषा दर्शन में प्रचलित अन्य परिभाषाओं से बहुत व्यापक है।
5. 'आत्मा' शब्द का प्रयोग यहां दो स्तरीय अर्थ में हुआ है जैसे उपनिषद् के "आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति" मंत्र में हुआ है।
6. यह विचार आत्मा विषयक संपूर्ण पारंपरिक विचार से कुछ भिन्न है और इसकी व्याख्या विस्तार से मूल्यतत्त्व-मीमांसा में की गई है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

# भारतीय दर्शनों में अत्यन्ताभाव

नारायण शास्त्री द्राविड़

सभी भारतीय दर्शनों में अभाव के सम्बन्ध में उसके स्वरूप, विधाओं, प्रतियोगी, अनुयोगी आदि को लेकर विभिन्न विचार प्रस्तुत किये गये हैं। कुछ न्याय-वैशेषिक जैसे दर्शन अभावों को उतना ही सत् पदार्थ मानते हैं जितना भाव-पदार्थों को, भले ही अभाव भावों के विरोधी हों। लेकिन इस वैविध्यपूर्ण अभाव-विचार में एक आश्चर्यजनक न्यूनता रह गयी है जिसकी ओर कुछ वेदान्तियों को छोड़कर अन्य किन्हीं दार्शनिकों का ध्यान नहीं गया। यह न्यूनता 'अत्यन्ताभाव' से सम्बद्ध है। अत्यन्ताभाव का उल्लेख तथा पुरस्कार सभी दार्शनिकों ने किया है लेकिन वे 'अत्यन्ताभाव' शब्द से जिस अभाव का निर्देश करते हैं वह वास्तव में अत्यन्ताभाव न होकर 'संसर्गाभाव' या प्रतियोगी वस्तु की स्थान विशेष में अवस्थिति का ही अभाव होता है। जैसे जल में अग्नि न होने से 'उसमें अग्नि की अवस्थिति या संयोग रूप संसर्ग का अभाव है' ऐसा कहना वस्तुस्थिति के अनुरूप है। इस प्रकार के अभाव के लिए अत्यन्ताभाव की संज्ञा भी प्रयुक्त होती है क्योंकि जल में किसी भी परिस्थिति में अग्नि की अवस्थिति नहीं हो सकती। अब एक अन्य उदाहरण लें। मेरी पुस्तक, जो अलमारी में रखी है, सामने वाली मेज़ पर नहीं है। अतः मेज़ पर इस पुस्तक का संसर्गाभाव है। इस अभाव को 'अत्यन्ताभाव' कहना क्या उपयुक्त होगा? अलमारी में रखी हुई पुस्तक मेज़ पर लाकर रखी जा सकती है। ऐसे रखी जाने पर पुस्तक का पूर्वतन अभाव जो मेज़ में पहले विद्यमान था अत्यन्ताभाव कहा या माना जाना कहाँ तक तर्कसंगत होगा? यदि आत्यन्तिक रूप से पुस्तक का अभाव मेज़ पर विद्यमान हो तो कभी और किसी भी हालत में पुस्तक मेज़ पर नहीं अवस्थित हो सकती। लेकिन प्रायः सभी भारतीय दर्शनकार अत्यन्ताभाव को संसर्गाभाव रूप ही मानते हैं। 'अत्यन्ताभाव' शब्द का सही अर्थ आत्यन्तिक अर्थात् सार्वकालिक तथा सार्वदैशिक अभाव है, जिसका वर्णन प्रसिद्ध अद्वैत वेदान्ती सुरेश्वराचार्य ने अविद्या के विनाश के स्वरूप को विशद करते हुए इस प्रकार प्रस्तुत किया है—"तत्त्वमस्यादि वाक्योत्थ सम्यक् धी जन्ममात्रतः। अविद्या सहकार्येण नासीदस्ति भविष्यति।" अर्थात् 'तत्त्वमसि' जैसे महावाक्यों के चिन्तन से प्राप्त तत्त्वज्ञान के द्वारा अविद्या भूत, भविष्य तथा वर्तमान इन तीनों कालों से लुप्त हो जाती है। इस प्रकार के आत्यन्तिक अभाव के स्वरूप और उसकी स्वीकृति की आवश्यकता तथा इससे उत्पन्न होने वाली तार्किक उलझनों के निवारण के प्रयास का स्पष्टीकरण इस लेख में किया जा रहा है।

आत्यन्तिक अभाव असद् वस्तुओं जैसे आकाश-पुष्प, वंध्या-पुत्र, वर्गाकृति-वृत्त आदि का सामान्तया माना जाता है। क्या वंध्या-पुत्र, वर्गाकृति-वृत्त कहीं होता है? ऐसा कोई

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



पूछे तो तुरन्त उत्तर दिया जाता है कि ऐसी कोई वस्तु कहीं नहीं होती। सामान्य बोलचाल में असद् वस्तुओं का आत्यन्तिक निषेध बिल्कुल स्वाभाविक समझा जाता है। लेकिन इस निषेध का तार्किक या ज्ञान-मीमांसीय विश्लेषण-समाधान अब तक प्राप्त नहीं हो पाया है। ये समस्याएँ भारतीय तथा पश्चिमी दर्शनों में समान रूप से चर्चा की विषय रही हैं। पश्चिमी दर्शनों में इन समस्याओं के लिए 'प्लेटो की दाढ़ी' यह आलंकारिक संज्ञा दी गयी है, क्योंकि प्लेटो की दाढ़ी के बालों के समान ही ये समस्याएँ उलझावपूर्ण हैं। सुप्रसिद्ध आधुनिक पाश्चात्य तर्कशास्त्री क्वाइन ने अपने एक बहुचर्चित लेख 'ऑन व्हाट देअर इज़' ('क्या है' के विषय में) इस समस्या की विस्तृत चर्चा करते हुए ही अपने वस्तुमीमांसीय दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया है। असत् के अत्यन्ताभाव की सत्यता को मान्यता देते ही यह मूलभूत समस्या उत्पन्न होती है कि यदि असत् का आत्यन्तिक अभाव सत् और व्यवहार्य है (जैसा कि 'असत् बिल्कुल नहीं होता' जैसे कथनों से स्पष्ट है) तो असत् को सत् मानना होगा। उदाहरणार्थ 'वंध्या-पुत्र का या आकाश-पुष्प का अत्यन्ताभाव' ऐसा अभाव माना जाने के लिए उसका वंध्या-पुत्र या आकाश-पुष्प से सम्बद्ध होना (प्रतियोगि रूप से) आवश्यक है। यदि यह बात सही है तो वंध्या-पुत्र, आकाश-पुष्प आदि असत् की सत्ता (वह जिस प्रकार की भी हो) माननी होगी। किन्तु यह सत्ता मान लेने पर उसका आत्यन्तिक निषेध वदतोव्याघात रूप हो जाता है। इस कारण उक्त समस्या का कोई विधि-निषेधात्मक समाधान असम्भव हो जाता है।

इस पर यह प्रतिवाद सम्भव है कि वंध्या-पुत्र, आकाश-पुष्प आदि भले ही असत् हों लेकिन इन के संप्रत्यय या कल्पनाएँ जो मन में उठती हैं वे तो सत् ही हैं। यदि ये संप्रत्यय सत् नहीं हों तो इनके विषय के सम्बन्धों में कोई निर्देश ही नहीं किया जा सकता। लेकिन इस प्रतिवाद का खोखलापन तुरन्त स्पष्ट हो जाता है। असत् का निषेध या अत्यन्ताभाव असत् की कल्पना का निषेध नहीं होता। कल्पना या संप्रत्यय मनोवृत्ति के रूप में पूर्ण सत्य होने पर भी उनके विषय ही असत् होते हैं। अतः असत् के निषेध को असत् की कल्पना के निषेध के रूप में नहीं परिवर्तित किया जा सकता। यही नहीं, असत् और उसके निषेध के सम्बन्ध के समान असत् और उसकी कल्पना के सम्बन्ध के बारे में एक समस्या उक्त प्रतिवाद में से उभर कर सामने आती है। यदि असत् की कल्पना को भी असत् मान लें तो इस कल्पना की कल्पना को सत्य मानना अनिवार्य हो जायेगा। इस समस्या का एक हल क्वाइन ने अपने उक्त लेख में प्रस्तुत किया है। हल यह है कि असत् के निषेध या निषेध-वाक्य को रसेल के वर्णन-सिद्धान्त का प्रयोग कर अर्थवान् और वदतोव्याघात-रहित ऐसा दर्शाया जाये। उदाहरणतः 'वंध्या पुत्र सत् नहीं, या बिल्कुल नहीं होता' इस वाक्य को 'कोई भी पुत्र वंध्या स्त्री से उत्पन्न हुआ नहीं होता' या 'कोई वंध्या किसी पुत्र को उत्पन्न नहीं कर सकती' इस तरह के वाक्य में रूपान्तरित करने पर वंध्या-पुत्र की सत्ता स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। यह सत्ता स्वीकार किये बिना भी उक्त निषेध वाक्य को सार्थक तथा व्याघातरहित वाक्य के रूप

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



में प्रस्तुत किया जा सकता है। वर्णन सिद्धान्त के द्वारा 'वंध्या-पुत्र' इस समस्त पद के अर्थ को दो अंशों में विभाजित कर एक को विधेय या विशेषण के रूप में और दूसरे को उद्देश्य या विशेष्य के रूप में ग्रहण कर एक को दूसरे से अलग कर देने से उक्त निषेध को विशेष्य में विशेषण के अभाव के रूप में परिवर्तित कर दिया जाता है। 'वंध्या का पुत्र' इस संश्लिष्ट अर्थ में से 'पुत्र' इस अर्थ को अलग कर उसके अभाव का प्रतिपादन करने के बजाय पुत्र में वंध्या से सम्बन्ध के अभाव का प्रतिपादन उक्त निषेध करता है ऐसा वर्णन सिद्धान्त का मन्तव्य है। यह भी कहा जा सकता है कि पुत्र में वंध्या-सम्बन्धित पुत्रत्व रूप धर्म का अभाव है ऐसा उक्त निषेध का अभिप्रेत अर्थ है।

इस तरह के स्पष्टीकरण का प्रयोग समस्त पदों के लिए किया जा सकता है। लेकिन कुछ असमस्त पद, जैसे संज्ञाएँ, भी असत् वस्तु के वाचक होते हैं, जिन पर वर्णन सिद्धान्त लागू करना सम्भव प्रतीत नहीं होता। जैसे 'राक्षस', 'भूत', 'पिशाच' आदि पद ऐसे काल्पनिक जीवों का निर्देश करते हैं जिनके किसी धर्म को अस्तित्ववान् नहीं माना जा सकता। अतः 'राक्षस, पिशाच आदि सत् नहीं' या 'ये नितान्त असत् होते हैं' ऐसे वाक्य को किसी भी वास्तविक धर्म के अभाव में प्रतिपादक के रूप में प्रस्तुत करना सम्भव नहीं। इस पर कहा जा सकता है कि राक्षसत्व, पैशाचिकत्व आदि वर्णनपरक धर्म हैं क्योंकि 'राक्षस', 'पिशाच' आदि शब्दों के वर्णनीय अर्थ होते हैं, इस कारण उक्त अभाव-बोधक वाक्य राक्षसत्व जैसे धर्मों के वस्तुगत अभाव का ही प्रतिपादन करते हैं। क्वाइन ने 'राक्षस', 'पिशाच' जैसे ही एक काल्पनिक प्राणी, जिसका दन्तकथाओं में 'पेगासस' यह नाम उल्लिखित है, का उदाहरण प्रस्तुत कर यह बताया है कि यदि 'पेगासस जैसी हरकतें करना' (जिसके लिए अंग्रेज़ी में 'पेगासाइज़िज' विधेय पद क्वाइन ने इस्तेमाल किया है) एक धर्म समझा जाय तो उसके अभाव का बोध 'पेगासस सत् नहीं है' इस वाक्य से कराया जा सकता है।

वर्णन-सिद्धान्त पर आधारित इन उपपत्तियों में एक गम्भीर दोष है जिसका क्वाइन आदि तर्कशास्त्रियों ने विचार नहीं किया है। वह दोष यह है कि यदि राक्षस, पिशाच, पेगासस आदि केवल काल्पनिक प्राणी हैं तो राक्षसत्व, पैशाचिकत्व आदि धर्म भी काल्पनिक ही मानने होंगे। उनकी वास्तविक सत्ता नहीं स्वीकार की जा सकती। किसी भी धर्म की सत्ता धर्मी पर ही निर्भर करती है। 'आकाश पुष्प' शब्द के अर्थ में आकाशीयत्व और पुष्पत्व को एक-दूसरे से अलग किया जा सकता है। लेकिन 'राक्षस' आदि असमस्त पदों विशेषतया संज्ञा पदों के अर्थों में धर्म और धर्मी दोनों काल्पनिक होने से वर्णन-सिद्धान्त का प्रयोग उक्त वाक्य के द्वारा धर्म या धर्मी के अभाव का बोधन करने के लिए नहीं किया जा सकता। क्वाइन इस भ्रम में है कि 'पेगासस' जैसा कोई प्राणी भले ही न हो लेकिन 'प्रेगासाइज़िंग' यह धर्म अवश्य सत् है। लेकिन यह बात सही नहीं है। 'आकाश पुष्प' के शब्दार्थ में पुष्प एक सत् पदार्थ है और 'आकाशीयत्व' यह विशेषण या धर्म

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



भी सत् पदार्थ है। 'आकाश से सम्बद्ध होना' यह आकाशीयत्व पद का अर्थ है। राक्षसत्व या पिशाचत्व ऐसा सत् धर्म नहीं है।

वर्णन सिद्धान्त से कुछ हद तक मिलता-जुलता एक सिद्धान्त १२वीं सदी के एक भारतीय तर्कशास्त्री सोन्दडोपाध्याय ने प्रस्तुत किया था जिसका यहाँ संक्षिप्त उल्लेख उपयुक्त होगा। इस सिद्धान्त को 'व्यधिकरण धर्मावच्छिन्नाभाव' का सिद्धान्त कहा जाता है। इसे नव्य नैयायिकों के अलावा अन्य भारतीय दर्शनों के पुरस्कर्ताओं ने भी अपनाया था। इस सिद्धान्त को आकाश पुष्प आदि असद् पदार्थों के अभावों के निरूपणार्थ इस प्रकार लागू किया जा सकता है : कोई भी पुष्प पुष्प के रूप में, द्रव्य के रूप में या अन्य किसी स्वगत गुण-धर्मादि के रूप में ही अपने स्थान पर अवस्थित या अस्तित्ववान् होता है। नव्य-न्याय की परिभाषा में इस बात को कहने के लिए, 'पुष्प की स्थान विशेष में सत्ता या आधेयता पुष्पत्व, द्रव्यत्व जैसे धर्मों से अवच्छिन्न होती है' इस पारिभाषिक पदावली का प्रयोग किया जायगा। यदि इस पर पूछा जाये कि पुष्प एक आकाशीय पदार्थ के रूप में कहाँ विद्यमान है? तो इस प्रश्न का उत्तर 'कहीं नहीं' ऐसा होगा। इसका कारण स्पष्ट है। पुष्प या अन्य कोई भी पदार्थ कहीं भी अपने किसी स्वगत रूप से ही अवस्थित हो सकता है अपने व्यधिकरण रूप से नहीं। अतः प्रत्येक पदार्थ की सत्ता व्यधिकरण-धर्मावच्छिन्न होकर कहीं भी विद्यमान नहीं हो सकती। अर्थात् पदार्थ का मात्र व्यधिकरण धर्मावच्छिन्नाभाव सर्वत्र विद्यमान या केवलान्वयी (यह 'सर्वत्र विद्यमान' पदार्थ के लिए पारिभाषिक संज्ञा है) होता है। जैसे आकाश पुष्प का अभाव पुष्प का आकाशीयत्वावच्छिन्न प्रतियोगित्वक अभाव है वैसे ही वंध्या-पुत्र का अभाव पुत्र का वंध्या-सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगित्वक अभाव होगा और ये सब अभाव व्यधिकरण धर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव होने से केवलान्वयी होंगे। ऐसा होने के कारण ही 'आकाश पुष्प', 'वंध्या पुत्र' आदि कहीं और कभी नहीं होते इस सामान्य धारणा का समर्थन हो पाता है। यही नहीं, वर्णन-सिद्धान्त के द्वारा जिस सामान्य धारणा का स्पष्टीकरण नहीं हो पाता उसका भी उक्त उपपत्ति से स्पष्टीकरण प्राप्त होता है। जैसे 'आकाशपुष्प गन्धवान् नहीं होते' यह कथन (जो रसेल के 'फ्रांस का राजा गंजा नहीं है' जैसा ही है) सुनने में बड़ा अटपटा लगता है क्योंकि यह न्यूनोक्ति रूप है, जब आकाशपुष्प सत् नहीं तब 'वह गन्धवान् नहीं' ऐसा कहना न्यूनोक्ति रूप ही होगा। वर्णन सिद्धान्त के अनुसार उक्त अभाव को एक सामान्याभाव के रूप में ('जो भी वस्तु पुष्प और आकाशीय है वह गन्धवान् नहीं है' या 'कोई भी वस्तु आकाशपुष्पत्व तथा सुगन्ध इन धर्मों से युक्त नहीं' इस रूप में) विश्लेषित करना होगा। ऐसा करने से उक्त वाक्य की सार्थकता का तो स्पष्टीकरण हो जाता है लेकिन उसकी 'न्यूनोक्ति' रूपता का स्पष्टीकरण नहीं हो पाता। नव्यन्याय के उपर्युक्त सिद्धान्त से यह स्पष्टीकरण अनायास प्राप्त हो जाता है क्योंकि असत् का अभाव व्यधिकरण धर्मावच्छिन्न अभाव होने से केवलान्वयी होता है। अतः जो

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



बिल्कुल ही नहीं है 'वह गन्धवान् या और कुछ नहीं है' ऐसा कहना न्यूनोक्ति रूप ही होगा।

असत् के अभाव की उपर्युक्त उपपत्तियों में समान रूप से एक दोष यह है कि वे सामान्यानुभव के अनुरूप नहीं हैं। 'पुष्प सुगन्धी नहीं है' ऐसा कथन 'आकाश पुष्प होता ही नहीं' ऐसे कथन के जैसा केवल सामान्य संसर्गाभाव बोधक नहीं समझा जाता। आकाश पुष्प का न होना पुष्प के सुगन्धी न होने के जैसा नहीं है। पुष्प यदि सुगन्धी न हो तो गन्धरहित या दुर्गन्धी हो सकता है, किन्तु आकाश पुष्प तो कुछ भी (और कहीं भी) नहीं होता। यह अभाव आत्यन्तिक है, जबकि पुष्प का सुगन्धी न होना केवल विशेष्य में विशेषण के संसर्ग का अभाव है। विशेष्य और विशेषण दोनों सत् हैं। अभाव केवल उनके संसर्ग का है।

नव्य न्याय की व्यधिकरण धर्मावच्छिन्न भाव पर आधारित उपपत्ति नावीन्य पूर्ण है लेकिन उसमें एक विशेष दोष है। वह यह है कि इस उपपत्ति के अनुसार कुछ अभावों की प्रतियोगिता को अनेक व्यधिकरण धर्मों से अवच्छिन्न मानना पड़ता है जबकि अन्य सभी अभावों की प्रतियोगिताएँ उनके समानाधिकरण धर्मों से ही अवच्छिन्न होती हैं। इस तथ्य का स्पष्टीकरण इस प्रकार है। उदाहरणार्थ भूतल पर विद्यमान घटाभाव को लें। इस अभाव का प्रतियोगी (या मोटे तौर पर अपवारक) घट है क्योंकि घट भूतल पर विद्यमान रहते वहाँ उसका अभाव नहीं रह सकता। लेकिन घट अपने घटत्व स्वरूप को लिए हुए ही अपने अभाव का प्रतियोगी होगा। घट को यदि कोई पार्थिव पदार्थ के रूप में देखे और कहे कि 'भूतल पर पार्थिव पदार्थ नहीं है' तो यह वक्ता का कथन असत्य होगा (यदि भूतल पर कपड़ा, पुस्तक जैसा कोई पार्थिव पदार्थ पड़ा हो)। अतः भूतल-वृत्ति घटाभाव की घट-वृत्ति जो प्रतियोगिता है उसका निर्धारक या अवच्छेदक घटत्व होगा पार्थिवत्व नहीं। यदि पार्थिव पदार्थ के रूप में घट के अभाव का कथन किया जाए तो पार्थिवत्व ही इस अभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक होगा। मतलब यह है कि अभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक धर्म प्रतियोगिता-समानाधिकरण धर्म ही होगा प्रतियोगिता-व्यधिकरण धर्म नहीं। सोन्दडोपाध्याय ने यह बिल्कुल नया क्रान्तिकारी विचार प्रस्तुत किया कि यदि प्रतियोगिता-व्यधिकरण धर्म को भी प्रतियोगितावच्छेदक मान लिया जाये तो असत् के अभाव का एक नये ढंग से स्पष्टीकरण दिया जा सकता है। लेकिन यह विचार सामान्यानुभव के अनुरूप न होने से कुछ नैयायिकों ने इसे अस्वीकार कर दिया। जो नैयायिक व्यधिकरण-धर्मावच्छिन्नाभाव को स्वीकार नहीं करते वे 'आकाश पुष्प सत् नहीं है' इसका अर्थ 'पुष्प में आकाशीयत्व नहीं है' इस प्रकार विशेष्यगत विशेषणाभाव के रूप में करते हैं। ऐसा अर्थ करने का कारण यह भी है कि वे अन्य दार्शनिकों के समान असत् की सत्ता या निर्देश्यता स्वीकार करने की आपत्ति से, जिसका उल्लेख प्रारम्भ में ही किया गया है, बचना चाहते हैं। अद्वैत वेदान्त को छोड़कर शेष सब भारतीय दर्शन पूर्णतया सद्वादी हैं। इनके अनुसार असत् की किसी प्रकार की सत्ता नहीं होती अतः

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



उसका किसी शब्द से अर्थपूर्ण निर्देश भी असम्भव है। क्योंकि अद्वैत वेदान्त सत् से भिन्न 'सदसदनिर्व्चनीय' की भी सत्ता मानता है इसलिए वह अन्य दर्शनों के समान सद्वादी नहीं कहा जा सकता। बौद्ध दर्शन की भी सद् विषयक भूमिका अन्य दर्शनों से भिन्न है। इसका कारण यह नहीं है कि वह अनिर्वचनीय का पुरस्कार करता है। बौद्ध दर्शन के लिए स्वयं सत् ही एक प्रकार ने असत् या 'निरुपाख्य' है। सत् स्वभावतः ही 'विनाशी' या अभाव विशिष्ट है। अतः सत् और असत् के बीच कोई मूलगामी भेद मानने की आवश्यकता बौद्ध दर्शन को प्रतीत नहीं होती।

यदि उक्त उपपत्तियों से असत् की असत्ता का संतोषदायक स्पष्टीकरण नहीं हो पाता तो असत् के आत्यन्तिक अभाव को पांच प्रकार के अभाव के रूप में स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है। प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव तथा संसर्गाभाव ये चार प्रकार के अभाव तो अनुभव-सिद्ध हैं। इन अभावों से अत्यन्ताभाव किन बातों में भिन्न है यह अब विस्तार के साथ देखना है। एक विशेषता अत्यन्ताभाव की अब तक के विवेचन से स्पष्ट हो गयी है। वह यह है कि उक्त चार प्रकार के अभाव किसी न किसी प्रकार के सत् से सम्बन्ध रखते हैं जब कि अत्यन्ताभाव असत् से ही सम्बद्ध होता है। 'किसी न किसी प्रकार का' यह विशेषण सत् के लिए प्रयोग करने का कारण यह है कि प्रागभाव उत्पद्यमान भावी पदार्थ का हुआ करता है। इस भावी पदार्थ के साथ उसके उत्पत्तिपूर्वक कालिक अभाव का सम्बन्ध किस प्रकार का है यह बताना आसान नहीं है। न्यायमतानुसार यह सम्बन्ध मानसिक न होकर वास्तविक ही होगा। ध्वंस का भी ध्वंसविषय-वस्तु के साथ जो सम्बन्ध है उसे भी निर्धारित करना आसान नहीं है। सामान्यतया सब प्रकार के अभाव और निषेध्य वस्तु इनके सम्बन्ध को 'प्रतियोगिता' रूप माना जाता है। 'प्रतियोगिता' शब्द का स्थूल अर्थ विरोधिता या अपवारकता है। वस्तु और उसके उक्त चारों प्रकार के अभाव एक-दूसरे का अपवारण करते हैं (इस अपवारण का स्वरूप भिन्न-भिन्न अभावों में भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है, जिस की यहाँ चर्चा अनपेक्षित है)।

एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात जो अत्यन्ताभाव को अन्य अभावों से अलगाती है वह यह है कि अत्यन्ताभाव सत्ता का निषेधक है जबकि अन्य सभी अभाव अस्तित्व के निषेधक हैं। सत्ता और अस्तित्व एक-दूसरे से भिन्न किन्तु एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं। न्याय-मतानुसार यह सम्बन्ध अनिवार्य नहीं है। वस्तुओं की सत्ता उनके देशकालगत अस्तित्व से प्रकट होती है। प्रत्येक उत्पत्ति-विनाशशील वस्तु किसी न किसी स्थान तथा काल में विद्यमान होती है। नित्य पदार्थों के सम्बन्ध में यह बात ठीक-ठीक नहीं कही जा सकती। ये पदार्थ सार्वकालिक तथा सार्वदैशिक या बिल्कुल देशकालानवच्छिन्न भी कहे जा सकते हैं। स्वयं देश तथा काल पदार्थ होते हुए भी किसी देश या काल में अवस्थित नहीं होते। उक्त चारों प्रकार के अभाव वस्तुओं के देश-कालगत अस्तित्व का ही निषेध करते हैं। जैसे भविष्य में उत्पन्न होने वाले पदार्थ का उत्पत्ति-पूर्व काल में जो अभाव है उसे प्रागभाव कहा जाता है। विनष्ट वस्तु के नाशोत्तर कालिक अस्तित्व का जो अभाव है उसे ध्वंसाभाव

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



कहा जाता है। विद्यमान वस्तु, वह जिस स्थान पर अवस्थित है, उसका उससे भिन्न स्थान में जो अभाव है उसकी 'संसर्गाभाव' यह संज्ञा है। एक वस्तु का अन्य सभी वस्तुओं (इनमें देशकाल भी समाविष्ट हैं) में तादात्म्य सम्बन्ध से जो अभाव होता है उसका 'अन्योन्याभाव' यह नाम है। इस स्पष्टीकरण से यह बात विशद हो जाती है कि चारों प्रकार के अभाव वस्तुओं के देश-कालगत सापेक्ष अस्तित्व का निषेध करते हैं। अत्यन्ताभाव अस्तित्व का निषेध न कर सत्ता का निषेध करता है। जैसे 'आकाश-पुष्प असत् है, या सत् नहीं है' इस निषेध में आकाश-पुष्प की सत्ता का न कि अस्तित्व का निषेध अभिमत है। चूँकि सत्ता देश या काल में अवस्थिति के रूप में ही प्रकट होती है अतः सत्ता का आत्यन्तिक निषेध सार्वकालिक तथा सार्वदेशिक अस्तित्व के निषेध के रूप में प्रकट होता है। इसलिए 'आकाश-पुष्प सत् नहीं' इस कथन का सुस्पष्ट अर्थ यह होगा कि 'आकाश-पुष्प कहीं भी और किसी भी समय में विद्यमान नहीं' होता।

तीसरी बात जो अत्यन्ताभाव को अन्य अभावों से अलगाती है वह यह है कि अत्यन्ताभाव के सत् होने के लिए उसके प्रतियोगी असत् का (किसी न किसी रूप में) सत् होना आवश्यक नहीं है। अन्य अभावों की सत्यता की यह आवश्यक शर्त है। इसी कारण अन्य अभावों को 'प्रसज्य प्रतिषेध' रूप माना गया है। इसका अर्थ यह है कि जिस प्रतियोगी रूप वस्तु का अस्तित्व (किसी देश-काल विशेष में) प्रसक्त (अर्थात् अपेक्षित) न हो उस वस्तु का उस (देश-काल विशेष में) प्रतिषेध योग्य नहीं होता। 'वंध्या के पुत्र नहीं हैं', 'पत्थर विद्वान् नहीं है' जैसे प्रतिषेध सार्थक नहीं माने जाते क्योंकि वंध्या के पुत्र होने की या पत्थर के विद्वान् होने की कोई अपेक्षा नहीं करता। असत् के प्रतिषेध को यह प्रसज्य प्रतिषेध का नियम लागू नहीं है। आकाश-पुष्प के किसी प्रकार के अस्तित्व (या सत्ता की) कभी अपेक्षा नहीं की जाती। इसकी असत्ता को परिलक्षित कर ही इसके वाचक पद का वाक्य में कभी-कभी प्रयोग किया जाता है।

यहाँ यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि प्रसक्ति वस्तु के अस्तित्व की अपेक्षा या सम्भावना है अस्तित्व नहीं। जब कोई कहता है कि 'अलमारी में कपड़े नहीं हैं' तब इस प्रतिषेध की सार्थकता इस बात पर निर्भर करती है कि वक्ता या अन्य व्यक्ति ने यह अपेक्षा की थी कि अलमारी में कपड़े हैं, अर्थात् अलमारी में कपड़ों का अस्तित्व सम्भावित है (वह वास्तविक हो या न हो)। इसी प्रकार भूत या भावी वस्तुओं के सम्बन्ध में भी उनके भूत, भावी अस्तित्व की सम्भावना के आधार पर इस अस्तित्व का अन्य काल (या देश में) निषेध किया जा सकता है। असत् के अस्तित्व की सामान्यतया अपेक्षा नहीं की जाती। लेकिन यदि कोई अनजान व्यक्ति आकाश-पुष्प को सत् समझ कर उसके सम्बन्ध में बात करे तो उसका प्रतिषेध भी 'आकाश-पुष्प सत् नहीं है' ऐसा कह कर सार्थक रूप से किया जा सकता है। इस तरह अत्यन्ताभाव को भी प्रसज्य प्रतिषेध रूप (कुछ प्रसंगों में) मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



इस विवेचन के बाद भी इस निबन्ध का मूलभूत प्रश्न कि 'प्रतियोगी यदि सत् न हो तो उसका अभाव कैसे सत् होगा और अभाव यदि सत् हो तो प्रतियोगी कैसे सत् होगा?' अनुत्तरित रह जाता है। प्रतिषेध या निषेध स्वयं अभाव नहीं है। ये अभाव-बोधक वाक्य हैं। प्रतिषेध की सत्यता या सार्थकता प्रतियोगी की प्रसक्ति मात्र पर निर्भर करती है। लेकिन अभाव की सत्यता (सार्थकता नहीं, क्योंकि अभाव वस्तु है, वाक्य नहीं) प्रतियोगी की सत्यता या अस्तित्व और उसके प्रतियोगिता रूप सम्बन्ध पर निर्भर करती है। असत् यदि है ही नहीं तो उसका अभाव कैसे सत् होगा और यदि यह अभाव सत् है तो इसका प्रतियोगी असत् कैसे असत् रहेगा? यह प्रश्न अब उत्तरणीय है। संक्षेप में यह उत्तर इस प्रकार है। असत् का अभाव वास्तव में काल्पनिक सत्तायुक्त असत् का वास्तविक अभाव है। कल्पना-विश्व में असत् की काल्पनिक सत्ता है। इस सत्ता का या इस सत्ता से युक्त असत् का वस्तु-जगत् में अभाव है जो सार्वदैशिक और सार्वकालिक होने से 'अत्यन्ताभाव' संज्ञा का पात्र है। काल्पनिक सत्ता को पश्चिमी दार्शनिक अलेक्सिस माइनांग की परिभाषा को अपनाते हुए हम आभिप्रायिक वस्तु असंत् (इंटेंशनल इनेग्ज़िस्टेंस) भी कह सकते हैं। बौद्धों ने इस आभिप्रायिक वस्तुसत् या 'अवस्तु' के लिए 'विवक्षा परतंत्र वस्तु' यह संज्ञा प्रयुक्त की है। शब्द-प्रमाण को अप्रमाण मानने के कारण बौद्धों ने शाब्द बोध विषय-वस्तु को वक्ता की विवक्षा के विषय के रूप में ही (वास्तविक रूप में नहीं) स्वीकार किया है।

प्रोफेसर कॉलोनी, हनुमान नगर, नागपुर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

# संगीत एवं चिन्तन : शल्य जी से दो बातें

मुकुन्द लाठ

जहाँ तक तक मैं जानता हूँ, एक शल्य जी ही हैं जिन्होंने संगीत एवं चिन्तन के समग्र पर एक चिन्तन सामने रखा है। पर यह भी देखिये कि अब उस पर दूसरे भी चाहें तो आलाप कर सकते हैं। यों उसको एक और तरह के विस्तार का द्वार मिल गया है। और दूसरे ही क्यों, लेखक भी तो उस पर आलाप कर ही सकता है—धुन को फिर राग में खोल सकता है। पुस्तक में एक बात बंध जाती है, लिखने वाला तो नहीं बंधता, लिखने वाला तो दूसरे पढ़ने वालों ही की तरह सोचने वाला ही होता है, और सोचने का व्यापार ही चरिष्णा है। संगीत की तरह ही आलाप है। आरम्भ में शल्य जी के लिए एक स्पष्टीकरण सामने रखना चाहता हूँ। स्पष्टीकरण की आवश्यकता शायद इसलिए है कि शल्य जी ने मेरी कथन-भंगी की जो सराहना की है उसमें साथ यह जोड़ना भूल गये कि उस भंगी में बात कहीं-कहीं ध्वनित ही रह जाती है, स्पष्ट रेखा में उजागर नहीं होती। विचार-प्रस्तुति की दृष्टि से यह दोष ही है। विचार में भी ध्वनि भाषा का भूषण हो सकती है, पर ऐसी ध्वनि नहीं जो ऐसा अनेकान्त जगाये कि अभिप्राय ही प्रतीप सा हो जाये।

संगीत एवं चिन्तन के पहले अध्याय 'राग और धुन' पर पैठ के साथ टिप्पणी करते हुए और उद्धरण देते हुए निदान को शल्य जी अध्याय का यह निष्कर्ष सामने रखते हैं—

"ऊपर के उद्धरणों में प्रथम अध्याय का कथ्य सारांश में प्रस्तुत हो जाता है। इसके अनुसार विचार और संगीत दोनों का मर्म शुद्ध बुद्धिगम्य तत्त्व है। प्रथम का मर्म प्रत्ययात्मक है और दूसरे का (शुद्ध) धुन। ये प्रत्यय और धुनें व्यवहार-लोक में उतरने पर अनेक रूपों और रागों में अभिव्यक्ति पाते हैं और अभिव्यक्ति की यह अनेकरूपता तत्त्वों के चरितार्थन के लिए अनिवार्य होती है। ये तत्त्व जबकि एक और अभिन्न होते हैं, चरितार्थन की इस विविधता में ये अर्थ का विस्तार और अभिवृद्धि पाते हैं, उपबृंहित होते हैं। यद्यपि इसमें एक प्रकट विरोधाभास है, किन्तु लोक पर परमार्थ का, अथवा कहें व्यवहार के लोक में बुद्धि के परमार्थ का सम्बन्ध इसी प्रकार का है। किन्तु, यहाँ एक सन्देह उत्पन्न होता है, उन्होंने साम गान और फिल्मी संगीत दोनों को धुनें कहा है। क्या वे भी अगेय, गणित की सी रचनायें हैं?" (देखये शल्य जी की नई पुस्तक साहित्य-चिन्तन और युग चिन्तन, राका प्रकाशन, इलाहाबाद में 'कला और विचार : बोध के दो आयाम', पृ. 45। यह समीक्षा-लेख पहले साक्षात्कार में भी छप चुका है।)

यहाँ मैं समझता हूँ कि मेरी बात का—या यों कहिये कि मेरे आशय का—ठीक ग्रहण नहीं हो पाया है। यह ठीक है—और जैसा कि शल्य जी ने उद्धरण से भी दिखाया है—कि मैंने एक स्थान पर राग और धुन का अन्तर करते हुए कहा है कि पश्चिम में

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



एक प्रवृत्ति है जो यह मानती है कि बाख़, बीथोवन आदि की रचनायें शुद्ध बुद्धि की विषय हैं, उनका प्रयोग में जो रूप हम कानों से सुनते हैं वह उनका 'शुद्ध' रूप नहीं है, शुद्ध रूप की छाया ही है। प्रयोग—या व्यवहार—में धुन का 'परमार्थ' मलिन हो जाता है। मलिन ही नहीं हो जाता, अनेकान्त भी हो जाता है। अनेकान्त का कारण यह है : बाख या बीथोवन ने अपनी धुनें स्वरलिपि में बद्ध की हैं, इन स्वरलिपियों को प्रयोग में प्रस्तुत करते समय, उनको कर्णगोचर रूप देते समय प्रस्तुतकर्त्ता को उसे अपनी पकड़ से 'बरतना' या 'निभाना' पड़ता है, स्वरलिपि को अपनी तरह से समझ कर अपनी तरह से उसका व्यवहार करना पड़ता है। इसमें 'व्याख्या' (इन्टरप्रेटेशेन) उभरती है और व्याख्या के भेद ऊपर आते हैं। भिन्न प्रस्तुतकर्ता (कण्डक्टर) एक ही 'धुन' को भिन्न प्रकार से प्रस्तुत करते हैं। ये भिन्न प्रकार सभी लिखित लिपि में बंधे होते हैं फिर भी अकसर काफी रूप-भेद लिए हुए होते हैं। प्रयोग में इस 'निभाव' के अनेकान्त से बचना संभव नहीं। पश्चिम में ऐसे भी संगीतकर्मियों का सम्प्रदाय है जो इस अनेकान्त को 'विकार' समझता है। इनमें से कई 'शुद्ध' वादी बाख-बीथोवन को सुनने से रचित स्वरलिपि को पढ़ना अधिक उचित समझते हैं—समझते हैं कि यों अनेकान्त बच जाता है। यह भी समझते हैं कि यों वे उस प्रतिभा-ग्राह्य धुन के अधिक निकट होते हैं जो रचना में गृहीत हुई थी और अब शुद्ध बुद्धि का विषय है।

इस विचार या बोध में दिखता ही है कि यहाँ प्लेटो जैसी एक तत्त्वदृष्टि का प्रभाव है : प्रतिभा-दृष्ट वस्तु का शुद्ध, अविकृत स्वभाव उसके व्यवहृत रूप में नहीं होता, एक ऐसे अतीन्द्रिय जगत् में होता है जो शुद्ध बुद्धिगम्य है। पर साथ ही एक और बात यहाँ देखने समझने की है। यह कि इस विचार में रचना एक निर्धारित वस्तु है जो वस्तु किसी तरह के निरिन्द्रिय रूप में अपने वस्तु-स्वभाव को बिना खोये बुद्धि ही के परमार्थ-लोक में रहती है। बल्कि वहीं—बुद्धि के उस परमार्थ-लोक में ही—यह वस्तु अपने सच्चे रूप में, अपने तद्-वस्तु रूप में प्रकट रहती है, इन्द्रिय-जगत् में रूप लेते ही उसका 'तत्' रूप रूपों के अनैक्य में उलझ जाता है और विकृत हो जाता है : 'वह' वस्तु फिर 'वही' नहीं रह सकती, एक छाया सी रह जाती है, या छाया-जाल का विस्तार कहिये।

मैंने बाख-बीथोवन की रचनाओं को हीं नहीं, साम को भी धुन कहा है। शल्य जी के उद्धरण में भी यह बात आई है। पर साम और बाख-बीथोवन विषयक धारणाओं में एक भेद है जो मेरी पुस्तक में नहीं उभरा है, इसलिए शल्य जी का भी उस ओर इशारा नहीं। बात को यहाँ उभारना चाहता हूँ, और उसी की चर्चा से बातचीत आगे बढ़ाऊँगा।

साम में भी धुन का सम्बन्ध लोकोत्तीर्ण प्रतिभा-दृष्ट परमार्थ से है। पर धारणा यहाँ पश्चिम की प्लेटो-संबंधी धारणा से बहुत भिन्न है। पहली बात तो यह कि साम धुन की किसी निरिन्द्रिय निर्धारित वस्तु-रूप में कल्पना नहीं है। यह सच है कि साम दृष्ट है, आर्ष है, किसी ऊर्ध्व 'सत्य' की प्रज्ञा या प्रतिभा-लब्ध अभिव्यक्ति है, इन्द्रिय-बोध मात्र की 'दृष्ट' या 'लौकिक' उपलब्धि नहीं। पर उसकी अभिव्यक्ति या उसका धुन-रूप में 'स्वभाव' या

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



'स्वरूप' किसी इन्द्रियातीत बुद्धि-जगत की 'वस्तु' नहीं है; ऐसा नहीं है कि साम का 'वास्तव' रूप किसी अतिक्रामी लोक में ही निर्विकार रहता हो और यहाँ, इस लोक में, उसका विकृत रूप ही प्रकट हो सकता है। साम विषयक बोध और विचार में ऐसी कोई बात नहीं है। साम अपने इन्द्रिय रूप में ही ऋषि-दृष्ट है। जैसे ऋक् मन्त्र की अक्षर-योजना अपने शब्द रूप में ही आर्ष है, 'परम' की अभिव्यक्ति है, उसी तरह साम अपने स्वर रूप में ही में साम है। उसकी स्वरानुक्रमी—स्वर-योजना—श्रुत रूप में ही 'श्रुति' है। कहना न होगा कि साम से जुड़ी धारणा का बाख-बीथोवन की धुनों की कल्पना से भेद गहरा है। साम किसी निरिन्द्रिय लोक में साम नहीं होता—जिसे हम गाते सुनते हैं, वही साम है। होने को स्वरलिपि का आधार साम में भी होता था—किसी भी बंधी हुई स्वर-योजना (या भाषा हो तो अक्षर-योजना) को संरक्षण के लिए और स्मृति में बनाये रखने के लिए लिपि सहायक होती है। पर बाख-बीथोवन की रचनाओं के बारे में जैसे स्वरलिपि को ही मानो रचना का 'मूल'-रूप माना जाता है, साम के साथ वैसा नहीं था। स्वर-लिपि वहाँ भी सहायक है, पर सहायक भर है—मूल, अविकृत, अव्यवहृत रचना नहीं है। रचना तो गीति-रूप ही है। लिपि का सम्बन्ध भाषा से जैसा अन्तरंग है वैसा संगीत से नहीं। यह बात हम यहाँ भारत में सहज ही मानते आये हैं। हमारी संगीत-परम्परा में गाने-बजाने का लिखने से सम्बन्ध दूर का ही है। पर पश्चिम में संगीत और लिपि का सम्बन्ध भाषा और लिपि जैसा ही है। भाषा की किसी कृति के लिए उसके लिखित रूप को हम अधिक प्रामाणिक होने का दर्जा देते हैं, अचंभा नहीं कि वही बात वहाँ संगीत की परम्परा में भी है। हमारे यहाँ नहीं है तो इसका एक बड़ा कारण यही है कि हमारे यहाँ संगीत में, संगीत के विदग्धतम 'शास्त्रीय रूप' में भी आलाप की परम्परा प्रधान है। उनके यहाँ गौण।

पर लिपि का भाषा और संगीत से एक और भी निहित सा स्वरूप-भेद है, जो बोध में अनायास-गम्य सा जान पड़ता है, लेकिन जिसे आत्मबोध के साथ विचार में उतना उभारा नहीं गया है। संक्षेप में कहें तो बात इतनी सी है : भाषा का मूक बोध हो सकता है, संगीत का नहीं। भाषा पढ़ने में उतनी ही भाषा रहती है जितनी बोलने में। बोलने में भाषा के साथ स्वर भी अभिन्न भाव से जुड़ा रहता है : उसका उतार-चढ़ाव किसी किसी भाषा में—जैसे चीनी में, अंग्रेज़ी में, वैदिक में—भाषामय भी होता है, पर साथ ही काकुमय और यों भावमय भी। काकु के रूप में उसकी एक अपनी सम्पदा मानी जा सकती है, जो संगीत को छूती सी है—भरत ने तो नाट्यशास्त्र में काकु के साथ सात स्वरों की स्पष्ट बात की है—पर यह 'सम्पदा' भाषा के लिए आगन्तुक कही जा सकती है। तभी तो लिपि में उसका लोप हो जाता है और भाषा अपने अर्थ-स्वरूप में अधिक समा जाती है। और सच देखें तो अर्थ-स्वरूप अगर भाषा का अपना स्वरूप है तो उसका पढ़ना उसके अधिक समीप है, जहाँ कि काकु जैसे आगन्तुक उपलक्षण उससे दूर हट जाते हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



यों भी अर्थ बुद्धि की सम्पत्ति है, इन्द्रिय की नहीं, और लिपि ही इस सम्पत्ति का उपयुक्त माध्यम है, उच्चारण नहीं।

संगीत में मैं समझता हूँ, बात उलटी है। एक अर्थ में वहाँ हम काकु-लोक की भाव-सम्पदा का ही स्वतन्त्र विस्तार पाते हैं। स्वर वहाँ प्रधान है, और स्वर लिखा नहीं जा सकता, उच्चारा ही जा सकता है—या बजाया जा सकता है, जो उच्चारण का ही एक भेद है, क्योंकि हमारा कण्ठ भी एक वाद्ययन्त्र-सा यन्त्र ही है। भाषा के विपरीत स्वर स्वरूप से ही इन्द्रियमय है—श्रुति है। इसीलिए कला जैसे प्रतीकमय माध्यम के लिए उसे किसी अर्थ में 'हीन' या 'अक्षम' भी माना जा सकता है, और काव्य को उसके 'ऊपर' रखा जा सकता है। शल्य जी के समीक्षा-लेख में भी इस बात का इंगित है। पर इस बात की चर्चा यहाँ नहीं करूँगा। एक प्रश्न उठा कर छोड़ देता हूँ। क्या हम उलटी तरह से नहीं देख सकते? संगीत जैसी कलाओं में हम क्या परोक्ष को इन्द्रिय-गोचर तक व्यापक नहीं देख सकते, जहाँ इन्द्रिय ही अपनी निरिन्द्रिय चेतना का प्रत्यक्ष करती है? जो भी हो, साम में किसी ऐसे लोक की कोई कल्पना नहीं है जहाँ साम बुद्धि जैसे किसी सूक्ष्म निरिन्द्रिय लोक में 'वस्तु' के समान रहता है, और अपने मूल अपरिवर्तित रूप में रहता है। इसीलिए साम में (और ऋक् मन्त्र में भी) प्रयोग-विषयक एक तरह के अनेकान्त की स्वीकृति है जो बाख-बीथोवन के धुन के निर्विकार 'एक' रूप की कल्पना में स्वीकार्य नहीं है। ऋक् और साम में शाखा-भेद स्वीकृत हैं। साम के बारे में तो कहा ही जाता रहा है 'सहस्रवर्त्मा सामवेदः'। इसमें इंगित साम की शाखाओं की ही ओर है। अब, यहाँ एक विरोध दिख सकता है : एक ओर तो ऋक् में आये अक्षरों की शृंखला नियत है, और इसी तरह—क्योंकि साम भी मन्त्र-श्रुति है—उसकी भी स्वरानुक्रमी नियत है। दूसरी ओर फिर शाखा-भेद की स्वीकृति कैसी? शाखा-भेद में एक मर्म की बात ही यह है कि भिन्न-भिन्न शाखाओं में 'उसी' मन्त्र की भिन्न अनुक्रमियाँ मिलती हैं, चाहे मन्त्र ऋक् हो या साम हो। फिर नियत अनुक्रमी के ही मन्त्र होने की बात का क्या होगा? विरोध प्रकट है। वैदिक परम्परा में भी इस विरोध का बोध होगा ही—बड़ी सजग, मीमांसानिष्ठ परम्परा रही है। विरोध का क्या उत्तर दिया गया है, या दिया जा सकता है, इन बातों में यहाँ नहीं जाऊँगा। इसका यहाँ प्रसंग भी नहीं है। पर इस विरोध से इतना तो उजागर हो ही जाता है कि वैदिक परम्परा में मन्त्र के 'नियत' स्वरूप का अर्थ किसी बुद्धिलोक जैसे अविकारी स्थान में वही का वही होना नहीं है। 'वही' का कुछ अनेकान्त स्वाभाविक है। वैदिक परम्परा में एक और भी बात इसी प्रसंग में उभरती दीखती है : वैदिक मन्त्र-बोध में ज़हाँ एक ओर यह प्रवृत्ति है कि मन्त्र के 'शरीर' को ही—वर्णों की अनुक्रमी को ही—मन्त्र माना जाये, वहीं यह विपरीत प्रवृत्ति भी है जो 'शरीर' के परे 'अर्थ' को—या साम को लें तो स्वरानुक्रमी के परे किसी संगीतमय 'मर्म' को—मन्त्र मानती है। किसी बँधी बँधायी स्वरानुक्रमी के पीछे किसी 'मर्म' को मानना—यह बोध अगर संगीत-दृष्टि में भी आ पैठे तो 'राग' जैसे किसी रूप की कल्पना अनायास सी होगी, जिसका 'वही'

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



होना किसी स्वरानुक्रमी पर निर्भर नहीं करता। आज की चर्चा में, विशेषकर वेद की चर्चा हो तो, बात इतिहास-चर्चा पर आकर टिके बिना नहीं रहती। आप पूछ सकते हैं कि क्या मैं यहां राग के उद्‌भव के भी एक प्रवृत्तिमय कारण विशेष का उल्लेख करना चाह रहा हूँ? मैं यही कहूँगा कि हो सकता है। पर यहाँ इतिहास उद्दिष्ट नहीं है। मन में इतिहास पढ़ने-पढ़ाने के संस्कार ने यह प्रश्न आगे ला खड़ा कर दिया है पर थोड़ा तह को उलट कर देखिये तो बात इतिहास की नहीं है, और भी गहरी है : मनुष्य की एक चिरन्तन द्विस्वभाव प्रवृत्ति की बात है : अर्थ-स्वरूप के बहिरंग और अन्तरंग रूप में दुविधा की बात है। और यों प्रवृत्ति के दो दिशाओं में बँटें रहने की बात है। इसीलिए अगर इतिहास में भी इस प्रवृत्ति के कारण वैसा कुछ घटा हो जिसकी ओर ऊपर इशारा है तो बहुत आश्चर्य की बात नहीं होगी। पर इतिहास साक्ष्य का भी आकांक्षी होता है, और ऐसे किसी साक्ष्य का मुझे ज्ञान नहीं जिससे अनुमान की पुष्टि हो सके। साक्ष्य तो राग के उद्‌भव में एक नई अभूतपूर्व प्रवृत्ति का जन्म दिखाते ही प्रतीत होते हैं, और संगीत का इतिहास लिखते हुए मैं ऐसा ही कहता-लिखता रहा हूँ। अब शल्य जी की टिप्पणी पर नई तरह से सोच रहा हूँ तो बात बदलती लग रही है।

पर जो भी हो, कर्म की ही दिशा में आगे बढ़ती एक और बात पर आता हूँ जिसका यहाँ प्रसंग ही उठाया है। मैंने साम के बाख़-बीथोवन से भिन्न 'परमार्थ' की बात उठाई थी। क्या है यह परमार्थ? साम के मर्म को मैं जैसा कुछ यहाँ कह रहा हूँ क्या 'परमार्थ' से मेरा इंगित ऐसी ही किसी धारणा या ऐसे ही किसी बोध की ओर है? पर वैदिक चिन्तन में राग जैसी धारणा का अभाव ही उजागर दिखता है। और यों भी साम अगर श्रुति है, और उसके परमार्थ का सम्बन्ध किसी आर्षप्रज्ञा और उपलब्धि से है—'परम' के किसी ऐसे आर्ष साक्षात्कार से है जो स्वरानुक्रमी का रूप लेता है—तो राग जैसा कोई रूप परम का पात्र बनता नहीं दिखता। हाँ, राग का वैसा कोई निश्चित अंग में अंग शृंखलाबद्ध गुम्फ नहीं होता जैसा धुन का। इस अर्थ में राग तरल और सूक्ष्म है। उसका रूप सतह से गहरा है। सम्भावनामय भी है। कुछ वैसा ही है जैसा विचार के 'प्रत्यय' का होता है। यह बात मैंने संगीत एवं चिन्तन में कही भी है। पर प्रत्यय भी तो बुद्धि का विषय होता है। आँख के लिए जैसे दृश्य वस्तु होती है, कुछ वैसा ही बुद्धि के लिए प्रत्यय होता है। इसे आर्ष-प्रतिभा-दृष्ट 'परमार्थ' कहने में नितान्त संकोच ही होता है। एक प्रश्न उठा दीजिये उधर उंगली भी उठ जाती है। यों देखिये। एक प्रश्न पूछिये : परमार्थ क्या है? 'परमार्थ' भी तो निदान को एक प्रत्यय ही है जैसे और प्रत्यय हैं। 'परमार्थ' प्रत्यय पर प्रश्न उठाना ही विचार को प्रत्यय के आठ पहरी लोक से परे ऐसी गहराइयों में ले जाता है जहाँ प्रत्यय मानो जा नहीं पाता। पर अगर इस प्रश्न को अवधान में रखकर राग-संगीत या राग-जगत् की ओर देखें तो ऐसे किसी राग को नहीं पायेंगे जिसके बारे में यह कह सकें कि जैसे प्रत्ययों में 'परमार्थ' प्रत्यय है वैसे ही रागों में यह 'परमार्थ' सम राग है, इसका गाना या सुनना दूसरे रागों से अलग भूमि पर ले जाता है। रागों में

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



गहरे और उथलेपन का, संकीर्ण और फैले हुए का भेद होता है और स्वाभाविक ही है, ऐसा प्रत्ययों में भी होता है। पर प्रत्यय-जगत् में जैसा 'परमार्थ' प्रत्यय है वैसा राग-जगत् में कुछ नहीं होता। न हो सकता है। यहाँ राग में और प्रत्यय में भेद स्पष्ट है। तो फिर गुत्थी और उलझती दिखती है। राग अगर अपने आप में परमार्थ नहीं और न राग में वैसा कुछ हो सकता है जैसा 'परमार्थ' जैसे प्रत्यय में है जो कि अपने परे का संकेत समोये रहता है, तो फिर साम का परमार्थ क्या? साम तो धुन है और यों स्वभाव से ही राग की अपेक्षा स्थूल और फिर नितांत इन्द्रिय-विषय है, उसका परमार्थ राग जैसा कुछ नहीं तो फिर क्या?

उत्तर अध्यात्म की दृष्टि से दिया गया है, बुद्धि की दृष्टि से नहीं। परमार्थ केवल प्रत्यय ही नहीं है वह जिस ऊर्ध्व की ओर संकेत करता है वह अध्यात्म साधना का भी विषय है। हमारी अध्यात्म-चेतना को उसका साक्षात्कार होता है, जिसकी ओर प्रत्यय केवल इंगित कर सकता है। पर प्रश्न फिर भी वहीं रहेगा : साम से उसका सम्बन्ध क्या? शब्दों में गुँथे मन्त्र, जैसे ऋक् मन्त्र, ये तो अर्थ का वहन करते हैं, परम अर्थ का भी वहन कर सकते हैं—इन्हें वर्णानुक्रमी मात्र कहना तो नितांत बहिरंग बुद्धि का थोथापन है। श्री अरविन्द और श्री अनिर्वाण ने दिखाया ही है—और बड़े सूक्ष्म सक्षम भाव से दिखाया है कि ऋक् मन्त्र परमार्थ की काव्यमय वाणी है। यह वाणी बुद्धि की वाणी नहीं है, यह प्रत्यय-विचार करती हुई युक्ति-तर्क और ऊहापोह के मार्ग से नहीं चलती। कुछ वैसी ही वाणी है जैसी कबीर की 'बानी'। उतनी ही परमार्थमयी। कई अर्थों में उससे भी गूढ़तर और व्यापक। ऋषि को कवि कहा ही गया है और कविता परमार्थ की कविता भी हो सकती है, वैसे ही जैसे चिन्तन परमार्थ का चिन्तन हो सकता है। कविता शब्द ही के माध्यम से भावमय इंगितों से परमार्थ की ओर उन्मुख हो सकती है—शब्द के कारण उसमें यह शक्ति है। पर संगीत में?

लेकिन हम कविता तक आ जायें तो संगीत पर भी आ सकते हैं। फिर भी संगीत कविता से भिन्न है। उसका परमार्थ की ओर संकेत भी फिर भिन्न होगा। साम में वह कैसा था, जिज्ञासा स्वाभाविक है। पर उस पर आने से पहले एक बात। ऋक् में परमार्थ-संकेत चाहे जितना विशद और गम्भीर हो, प्राचीनकाल में ऐसे किसी सम्प्रदाय की सूचना नहीं मिलती जो ऋक् के आधार पर साधना-उपासना करता हो। उलटे ऋक् को तो कर्मकाण्ड के विनियोग में सचमुच वर्णानुक्रमी मात्र बना देने की प्रवृत्ति ही अधिक उजागर दिखती है। अध्यात्म की वाणी उपनिषदों को ही माना जाता रहा है, ऋक् मन्त्रों को नहीं। उनकी अपनी अध्यात्म अभिव्यंजना की ओर जागरूकता आधुनिक है। आज कोई ऋक् सम्प्रदाय उभर भी सकता है, पहले रहा हो तो उसकी स्मृति नहीं बची है।

पर अध्यात्म का साम सम्प्रदाय मुखर था—साम की उपासना करने वालों का सम्प्रदाय। उसका परिचय दूँ इसके पहले एक और बात उठाना चाहता हूँ, जिससे मैं समझता हूँ साम के अपने स्वरूप पर भी कुछ प्रकाश पड़ेगा। साम का सम्बन्ध स्वर से है और यों नाद

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



से; बल्कि हमने देखा है कि बिना नाद के—बिना श्रव्य ध्वनि के—स्वर की कल्पना ही सम्भव नहीं। अब यहाँ कुतूहल की बात यह है कि हमारे यहाँ की साधना-पद्धतियों में नाद-उपासना की भी पद्धति रही है, जिसका स्वर से सम्बन्ध नहीं रहा है। शायद सम्प्रदाय भी रहा हो, मैं जानता नहीं। योग सम्बन्धी पीछे के उपनिषदों में पद्धति का विवरण मिलता है। नाद की उपासना का रूप यहाँ साम को समझने में उपादेय होगा। नाद- उपासना की पद्धति में आहत (ध्वनिमय) नाद को सूक्ष्म से सूक्ष्मतर करते हुए अनाहत नाद (ध्वनि से परे निराकार) की ओर बढ़ने की साधना है। मूर्त्त की मूर्त्तता का योग से अपचय करते हुए अमूर्त्त की ओर बढ़ने की। साम में ऐसा नहीं है। वह प्रतीक-साधना है। नाद-उपासना का जो वर्णन मैंने देखा है उसमें साधक अपने दाहिने कान के भीतर गूँजंती हुई ध्वनि पर ध्यान केन्द्रित करता है—हम हाथ से कान बन्द कर लें तो जो बिखरी हुई सी ध्वनि सुनती है उसी की ओर यहाँ इशारा जान पड़ता है। नादबिन्दूपनिषद् कहता है कि ध्यान के बल पर ज्यों-ज्यों चित्त समाहित होता है, यह ध्वनि सूक्ष्म होती जाती है और प्रिय भी। सुनने के अभ्यास और अनुसंधान के साथ पहले समुद्र, मेघ फिर भेरी और निर्झर की ध्वनि सुनती है; फिर आगे चल कर साधना के मध्य पर्व में मादल, घंटा और काहल की ध्वनि उभर आती है, जो और भी सूक्ष्म हो कर वंश के निःस्वन और किंकिणी और वीणा के क्वणन में बदल जाती है। इन ध्वनियों पर ध्यान एकाग्र रहे और इनमें चित्त रमा रहे तो मन स्थिर, निश्चंचल हो जाता है। फिर उसका सहसा नीरव, ध्वनिहीनता में विलय हो जाता है; वह चिदाकाश में समा जाता है; शब्द परम पद में निःशब्द हो जाता है। (सशब्दश्चाक्षरे क्षीणे निःशब्दं परमं पदम्) नादबिन्दूपनिषद् श्लोक 31-40 और 49 देखिये, दि योग उपनिषद्स, अड्यार लाइब्रेरी, पृ. 221-222 और 224)

यह साधना निरगुनियों और नाथपंथी आदि योगियों की अनाहत साधना का ही एक रूप जान पड़ती है जो एक प्रकार के श्रव्य नाद का सहारा लेकर आगे बढ़ती है। कान के भीतर की ध्वनि को शायद नादबिन्दूपनिषद् 'आहत' नाद न कहना चाहे पर वह श्रव्य है तो आहत ही है, ध्वनि कान के 'बाहर' से न आती हो पर भीतर की हवां के ही स्पर्श से ('आहति' से) उत्पन्न होती है।

साम की साधना को भी उपासना कहा गया है। अनाहत की इस परवर्ती योग-साधना से उसका सम्बन्ध नहीं है; न ही वह इसका कोई आदि रूप या पूर्व रूप कहला सकता है। पहली बात तो यह कि उसका सम्बन्ध मात्र नाद से नहीं स्वर से है और स्वर से ही नहीं स्वर-योजना से। स्वरों के उन विशेष व्यूहों से जो 'साम' कहलाते थे। फिर यह भी बात है कि वह सचमुच उपासना थी, योग जैसी साधना नहीं। साधना और उपासना में साम्य हो सकते हैं—जैसे चित्त की एकाग्रता—पर भेद भी हैं; और यों एकाग्रता या अवधान तो कोई भी अभ्यास चाहता है, अध्यात्म का हो या न हो।

एक विलक्षण बात जो साम की उपासना में दीख पड़ती है, यहाँ अवधेय है। साम की कल्पना एक विग्रह के रूप में की गई है, मानो स्वरमयी देव प्रतिमा हो। साम के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



स्वर-शरीर को सर्वदेवमय कहा गया है और इसी रूप में उसकी उपासना होती थी। यहाँ देखने की विशेष बात यह है कि वैदिक युग में हमें अन्यथा मूर्तिपूजा का दृष्टान्त नहीं मिलता। हम ढूँढते पत्थर, धातु की या लकड़ी की ही मूर्तियाँ हैं या इनके उल्लेख। पर मूर्त होना अगर इन्द्रियगम्य होने का पर्याय है तो मूर्ति दृष्ट ही नहीं श्रव्य भी हो ही सकती है। साम इसका उदाहरण है, हालांकि उसको इस दृष्टि से देखा नहीं जाता है।

यों साम प्रतीक था, देवताओं का—द्रव्य-भाव—का प्रतीक। धातु-प्रस्तर आदि में मूर्त प्रतिमा रूपी प्रतीक की तरह ही उसकी उपासना की जाती थी—विग्रह या प्रतिमा के रूप में। प्रतीक-उपासक के लिए प्रतीक मात्र प्रतीक नहीं होता, इष्ट का स्वरूप ही होता है। इष्ट से उसका भेद अभेद में ही डूबा रहता है। हमारे यहाँ भक्ति के सगुण उपासना-सम्प्रदायों में तो यह बात बहुत उजागर है। मूर्ति मूर्ति नहीं स्वयं देव होती है। पर मूर्ति में यह अपेक्षा भी होती है कि वह 'उचित' प्रतीक हो, उसके शिल्प रूप में देवत्व की कला-सुलभ व्यंजना हो, जैसी कि बुद्ध, विष्णु, शिव आदि की मूर्तियों में हम देख ही पाते हैं। इसीलिए देव-मूर्तियों के गठन का एक रूप-विधान बन खड़ा होता है। यह विधान शास्त्रोक्त होता है, इस अर्थ में कि यह लौकिक लोक-स्वेच्छा-कृत नहीं माना जाता, लोकोत्तर माना जाता है। साम की तरह ही 'श्रुत' या 'आर्ष-दृष्ट'। पर मूर्ति मूर्त होती है—सावयव—अपने अंग-विन्यास में ही वह अमूर्त देवत्व को उतारती है। इसलिए उसे प्रतीक कहना भूल नहीं। यह ठीक है कि उसका अमूर्त से सम्बन्ध होता है—साम का भी था ही—पर यह सम्बन्ध उसके मूर्तत्व का निराकरण नहीं करता। जैसा नादोपासना में ध्वनि का होता है। बल्कि यहाँ अपेक्षा यह रहती है कि मूर्ति उचित हो, परम का शिल्प-कला रूप में सार्थक प्रतीक। नादोपासना में नाद साधना का एक सहारा भर है, अपने आप में उसके रूप की कोई सार्थकता नहीं। वह शिल्प-दृष्ट प्रतीक नहीं है।

पर एक बात यहाँ विचारने की और है। साम को हम प्रतीक कहें तो उस प्रतीक के ही एक और प्रतीक की—एक ऊर्ध्वतर प्रतीक की—हम बात कर सकते हैं। साम की धारणा के एक से अधिक पक्ष हैं और धारणा उतनी एकांगी या सीधी सरल नहीं है जितनी ऊपर की विवेचना से लग सकती है। उस धारणा में एक सूत्र यह भी उभरता है, जहाँ प्रणव को—ओंकार को—हम साम मात्र का मर्म या परम साम कह सकते हैं। दूसरे शब्दों में, वह साम का परम प्रतीक है। ओंकार साम गान का एक अंग था, एक स्तोभाक्षर, जो साम के आरम्भ में गाया जाता था। लगता है इसे परमाक्षर का पद साम में ही मिला और बाद में समस्त वैदिक चिन्तन में। पर इतिहास जो भी हो, साम में भी यह परमार्थ का प्रतीक है और इसे सामों का 'सामत्व' भी कहा जा सकता है।

पर इसका साम की स्वर-योजना से क्या सम्बन्ध है? कुछ भी नहीं। इसीलिए यह साम का ही नहीं 'परम' का स्वतन्त्र प्रतीक है। आकार में निराकार का, नश्वर में अविनश्वर का प्रतीक। इसका कोई स्वर या स्वर-योजना नहीं है। फिर प्रश्न उठ सकता है कि इसे किसी भी साम धुन का शुद्ध बुद्धिगम्य स्वरूप क्यों न कहा जाये? बुद्धिगम्य धुन में

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



जैसे सुन सकने वाले स्वर नहीं रहते, वैसा ही तो यहाँ भी हो रहा है! पर एक पते का अन्तर है जो साफ उभरता दीखता है। बाख़-बीथोवन की बुद्धिगत शुद्ध धुन की धारणा में धुन का स्वरूप लुप्त नहीं होता। ऐसा नहीं होता कि सभी धुनों का एक ही बुद्धिगम्य शुद्ध स्वरूप हो। धुनों का भेद बना रहता है। होता यह है कि धुन का वह अनेकान्त मिट जाता है जो उसके प्रयोग में अनिवार्य है; और इसके लिए धुन को उसके इन्द्रिय रूप से परे हटाने की कल्पना है। जब तक धुन का हम इन्द्रिय रूप मानेंगे, उसे इन्द्रिय के और हमारे स्वर-प्रयोग के सहज अनेकान्त से नहीं हटा सकते। उसका बुद्धि रूप उसके रूप को रखते हुए भी उसके अद्वय शुद्धत्व की कल्पना है। धुन का ऐसा परमार्थ केवल बुद्धिगम्य ही हो सकता है। पर यों धुन बुद्धि में बसती हुई 'वस्तु' है—और भिन्न धुनें भिन्न वस्तुएँ हैं। तभी धुन के सुनने और बुद्धि में सुनने के बाहर होकर भी 'शुद्ध' हो, जाने के बीच में एक सीढ़ी और बनाई जा सकती है : धुन को स्वर लिपि में पढ़ना।

साम में यह बात नहीं है। साम जहाँ तक स्वर-योजना के रूप में प्रतीक हैं वहाँ भिन्न साम भिन्न स्वर-योजनाएँ हैं—उसी रूप में आर्ष हैं और उसी रूप में परम के संकेत। यों उनके प्रयोग में अनेकान्त आये तो उससे साम की परम्परा को इनकार नहीं है। हाँ, प्रयोग में भी विकृतियाँ आ सकती हैं—बेसुरापन, लय की मात्राओं का चूक जाना—इनसे बचाव आवश्यक है, जैसा किसी भी प्रयोग की 'शुद्धि' की धारणा में होगा ही। पर 'शुद्धि' यहाँ प्रयोग की है—किसी बुद्धिगत अप्रयोग की नहीं। 'शुद्धि' के अलावा प्रयोग में निभाव के और भी गुण-धर्म हो सकते हैं; प्रयोग में इनके तारतम्य हो सकते हैं; होते ही हैं : शिल्प की सफाई, सहज भाव, भाव का खरापन, गहराई—इनकी भी साम में अस्वीकृति नहीं हो सकती। फिर इनमें न्यूनाधिक की बात भी होगी ही। सीधे शब्दों में या अभिधा में न सही, लक्षणा के रूप में इनकी स्वीकृति मिलती ही है। धुन को बुद्धिगत बना दिया जाये तो यह तारतम्य भी नहीं रह सकता। इस पर आपत्ति करते हुए हम कह सकते हैं कि वहाँ धुनें अपने शुद्ध रूप में ही नहीं गुणधर्म की दृष्टि से अपने चरम उत्कर्ष पर रहती हैं। पर यों उत्कर्ष की बात लें तो बात में एक सकता भी आ जायेगा। उत्कर्ष का तारतम्य केवल मात्रा की बात नहीं है, जहाँ किसी गुण की मात्रा के 'चरम' की बात जाये, अगर की जा सकती हो—क्योंकि अन्तिम अंक के आगे जैसे एक और जोड़ा जा सकता है, गुण का उत्कर्ष भी वैसे एक चरण और आगे हो जाता है। तारतम्य गुण-भेद का भी तो होता है—एक गुण का समावेश दूसरे गुण का अभाव या जानबूझ कर असमावेश हो सकता है। खरापन तो शायद शिल्प क्या, अभिव्यक्ति मात्र का आवश्यक गुण माना जा सकता है; पर सफाई (या 'लाघव') हो तो हो सकता है गहराई न भी हो। यों तारतम्य की धारणा उत्कर्ष की—गुण विशेष के उत्कर्ष की—धारणा तक सीमित नहीं है। भिन्न गुणों के व्यूहों के, उनके भिन्न संघातों के या गुम्फों के भिन्न उत्कर्ष हो सकते हैं और यों तारतम्य की धारणा में सहज अनेकान्त दिखाई देता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



लेकिन क्या निरी सापेक्षता भी दिखाई देती है? क्या इसका अर्थ यह है कि किसी न किसी दृष्टि से सभी कुछ उत्कृष्ट कहला सकता है? क्या किसी कृति या प्रयोग को—चाहे धुन हो या आलाप—उसे 'संगीत' कहने का यह अर्थ नहीं कि उसमें कोई न कोई गुण या गुण-संघात है जो उत्कर्ष का भागी है? क्या 'संगीत' कहना यही उत्कर्ष का चिह्न नहीं है जो 'ध्वनि' या 'ध्वनि संघात' या 'स्वर संघात' तक कह देने में भी नहीं आता? और यह सच भी है कि 'श्रव्य' मात्र से 'संगीत' में एक उत्कर्ष है—उत्कर्ष ही क्या, एक कोटि-भेद जैसा भेद है, जो संगीत मात्र को किसी उदात्त स्थान पर ला बैठाता है—वस्तु मात्र की श्रेणी से हटा कर 'सार्थकता' के स्थान पर ले जाता है, और यही क्या उत्कर्ष नहीं?

माना : और थोड़ी सी तीखी निगाह से तो संगीत एवं चिन्तन में यह मान्यता मानो मूल में समोई हुई है। पर एक बात सोचिये। माना कि संगीत मात्र का स्थान उत्कर्ष का स्थान है, वस्तु मात्र से कहीं ऊपर। मनुष्य की अर्थ-चेतना में स्नात। पर क्या संगीत में तारतम्य नहीं है? उत्कर्ष-भेद? और उत्कर्ष का सोपान-भेद? संगीत मात्र को एक ही सोपान पर तो नहीं रखा जा सकता। संगीत एवं चिन्तन कुछ ऐसा सा करता है। हाँ, एक अन्तर करता है, धुन और आलाप का, और यह भी वहाँ प्रकट सा ही है कि धुन से आलाप 'अच्छा' है। पर जैसा शल्य जी के प्रश्न से नितान्त स्पष्ट है, धुनों में उत्कर्ष-भेद के लिए विस्तृत स्थान है। साम को और फिल्मी धुन को हम एक स्थान पर नहीं रख सकते। न यह कह सकते हैं कि ये किसी एक तत्त्व की भिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं—या कि समतुल्य तत्त्वों की व्यंजनाएं हैं। और इनमें तत्त्व-भेद है तो उन तत्त्वों में उत्कर्ष-भेद भी है। धुनों में उत्कर्ष-भेद है तो आलाप में भी होगा ही। यदि धुन की तुलना में आलाप को हम किसी अर्थ में चेतना की अधिक प्रांजल, अधिक चेतन भूमि का प्रवाह कहना भी चाहें तो भी आलाप मात्र को उत्कर्ष की एक ही भूमि पर तो नहीं रख सकते। सहृदय के रूप में हम सभी आलाप और आलाप में उत्कर्ष-अपकर्ष-भेद करते ही हैं। और 'आलाप' के अर्थ का अगर हम 'संस्कृति' के पूरे क्षेत्र पर पसारा देखें—जैसा संगीत एवं चिन्तन में देखा गया है—तो उत्कर्ष-अपकर्ष भेद का क्षेत्र मनुष्य के लिए सर्वतोमुखी हो जायेगा। और कहना न होगा कि बात यही है भी।

पर संगीत एवं चिन्तन का विचार इस दिशा की ओर नहीं सा ही बढ़ता है। पुस्तक के अन्त में 'खरेपन' की बात की गई है; गहराई की, उदात्तता की बात की गई है। पर उसकी प्रेरणा क्या? उसका आधार क्या? इस प्रश्न को सचमुच प्रश्न मान कर विचार नहीं किया गया है। पुस्तक के आरम्भ में एक बड़ा प्रयत्न यह दिखाने का है कि आलाप की वृत्ति मनुष्य में सहज है, इस वृत्ति के बिना विचार तो सम्भव ही नहीं है। और वहीं यह शायद सबसे अधिक सहज और स्पष्ट है। विचार कभी किसी विचार की अनुवृत्ति नहीं हो सकता; इस अर्थ में अनुवृत्ति कि विचार जिन शब्दों में किया गया हो उनको यों का यों कह देना। ऐसा करना 'विचार' ही नहीं होगा। विचार में ऊहापोह, चिन्तन, मनन—ये

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



विचार या सोचने से अभिन्न हैं। ये संगीत में आलाप की तरह हैं। यदि विचार आलाप हो तो 'वही' विचार 'उन्हीं' शब्दों में नहीं दोहराया जा सकता, 'वही' भी रहेगा तो बदल कर रहेगा, जैसा राग के साथ होता है। आलाप के कारण। पर संगीत में एक और प्रवृत्ति भी है, जिसका ऊपर भी उल्लेख कर चुका हूँ—अनुवृत्ति में 'वही' को 'वही' रखने की चेष्टा। यही 'धुन' की प्रवृत्ति है जिसका संगीत में उतना ही घर है जितना आलाप का है। मैं यह समझता हूँ—और मैंने पुस्तक में यह दिखाने का यत्न भी किया है—कि धुन की अनुवृत्ति में भी कहीं न कहीं आलाप पलता है : निभाव के नये मोड़ों में, लगाव के हल्के, गहरे, मीठे, तीखे या सीधे-सपाट बलों में (जिसे काकु भी कह सकते हैं), लय के यति-भेदों में, विच्छेदों में, विरामों में (जिसे पुराने लोग विदारी-भेद कहते थे), और ऐसे ही रचना-शरीर के दूसरे सूक्ष्म व्यावर्तनों में। ये छोटी छोटी बातें और उनका पूरी रचना पर विस्तार 'उसी' रचना की भिन्न प्रस्तुतियों को काफी मात्रा में परस्पर व्यावर्तित कर देती हैं। यह अन्तर उतना नहीं होता जितना 'उसी' विचार के प्रस्तुति-भेद की अभिव्यक्ति में होता है या उसी राग की प्रस्तुति में होता है, पर बहुत नगण्य भी नहीं होता। अपनी उपस्थिति का स्पष्ट बोध कराता है। आप कह सकते हैं कि इसको दूर करने का भी तरीका है; पहले नहीं भी रहा हो, आज तो है : रचनाकार यों करें कि रचना को सीधे किसी मशीन पर डाल दें और तव मशीन उसकी अनुवृत्ति को यन्त्रवत् यों का यों बनाये रखेगी। पर यहाँ एक बात है जो मशीन का ध्यान आने पर अक्सर हमारे ध्यान से उतर सी जाती है : मशीनें स्वयं वही की वही नहीं रहतीं, देश-काल की वैसी ही विषय होती हैं जैसे हम हैं; बदल जाती हैं, उनमें दोष आ जाता है, अनुवृत्ति को बिल्कुल 'वही' बनाये नहीं रख सकतीं। मशीन बुद्धिगत शुद्ध धुन का स्थान नहीं ले सकती। फिर इससे भी बड़ी बात यह है कि मशीन का अपने आप से किसी संगीत जैसी रचना से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता—कैसी भी मशीन हो, कम्प्यूटर हो, कुछ हो। सुनने वाला मशीन नहीं होता और सुनने वाले के बिना संगीत नहीं होता। और संगीत के बिना उसे मशीन पर उतारने का कोई अर्थ नहीं। और ऐसा भी नहीं है कि आलाप केवल गाने बजाने वाले ही करते हैं। सुनने वाले भी आलाप करते हैं। यह सच है कि सुनने वाले और गाने वाले में भेद होता है। पर यह भेद कोई आत्यन्तिक भेद नहीं है। कोटि भेद नहीं है। सहृदयत्व दोनों में होता है। और आलाप की प्रवृत्ति इस सहृदयत्व में ही बसी होती है। विचार का दृष्टान्त फिर से लीजिये तो बात बिल्कुल सामने है। लिखित विचार को हम आज मशीन के सहारे यों का यों रखते ही हैं। उसमें जो टंकण की और छापे की भूलें आये बिना नहीं रहती हैं, उनको चलिए भूल जाइये। यह मान लीजिये कि विचार का लेख या लिखित विचार सदा सदा के लिए यों का यों रह सकता है। पर विचार का ग्राहक क्या आलाप किये बिना रह सकता है? आलाप किये बिना क्या विचार का ग्रहण भी कर सकता है? विचार-लेख तो विचार के आलाप की खुली चुनौती होता है—'चुनौती' नहीं भी कहना चाहें तो 'निमन्त्रण' कह लीजिये। पर विचार-लेख से जागने वाले बोध

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



को कुछ भी कहिये, अगर वह बोध विचार-बोध हो तो उसमें एक स्वतन्त्र स्पन्द होगा ही, उसके पीछे एक अपनी प्रेरणा होगी जो मात्र ग्रहण-प्राण नहीं होती। विचार का 'कोरा ग्रहण' यह बात ही स्वतोव्याहत सी है। विचार के ग्रहण में जो स्पन्द होता है वही आलाप है।

विचार में जो बात स्वयं स्पष्ट है, कला के ग्राह्य-ग्राहक भाव में उतनी स्पष्ट न भी हो पर वहाँ भी उसका स्पन्द सहज है। यह मानव का स्वभाव-स्पन्द है, जो विचार में प्रांजलतम सा उजला दिखता है। पर वह विचार-मात्र की सम्पदा नहीं है। यह आत्मचेतन होने का गुण है, और यह बात शल्यजी अपनी तरह से बहुत उजागर करते हुए कहते ही रहे हैं। संगीत एवं चिन्तन के समीक्षा-लेख में भी इसका संकेत है। संगीत एवं चिंतन का एक प्रधान अभिप्राय यही है। कला की भी कुछ परम्पराओं में चेतना का सहज विमर्श-बोध अधिक उजागर हो कर दिख जाता है—जैसे रागदारी की परम्परा में। मेरा राग में कुछ प्रवेश है इसीलिए मैंने रागदारी को मनुष्य के स्वभाव-सुलभ आलाप-कर्म का रूपक बनाया। विचार की ओर भी मेरा रुझान संगीत पर चिन्तन के रास्ते ही हुआ है।

मैंने यही कहना चाहा है कि आलाप मनुष्य का स्वभाव-गुण है। धुनें आलाप के प्रवाह में बनते हुए द्वीप सी हैं। हम उन पर बसेरा कर लेते हैं, घर गढ़ लेते हैं, उन्हें बाँध रखना चाहते हैं। पर वे प्रवाह से बच नहीं सकतीं; प्रवाह में बनती हैं तो बिगड़ती भी हैं—प्रवाह 'उसी' द्वीप को कुछ और रूप दे देता है, नये दूसरे द्वीप भी बना देता है। प्रधान प्रवाह है, द्वीप गौण, गौण ही नहीं प्रवाहोद्भूत—प्रवाह के सदा-बहाव से हटा कर कुछ स्थिर बनाने की चेष्टा।

यह मैंने कहा है। इसके पीछे एक पुरानी उक्ति, एक पुरानी दृष्टि की प्रेरणा है, "नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धिः प्रतिभा।" प्रतिभा का यह लक्षण मैं समझता हूँ मानव-चेतना का सहज लक्षण है। सृजन के प्रति उसका स्वभाव-निष्ठ उन्मेष। यहाँ जो व्यावर्तन मेरे मन में रहा है वह प्रतिभा की एक विशेष और विशेष-निष्ठ दृष्टि को मन में रख कर रहा है : पश्चिम की वह दृष्टि जिसकी मैंने ऊपर चर्चा की ही है। प्रतिभा इस दृष्टि में मनुष्य का सहज गुण नहीं, विशिष्ट गुण है—विशेष लोगों में ही प्रतिभा होती है, जैसे बाख़ और बीथोवन में, सब में नहीं। ये विशेष लोग जो सृष्टि करते हैं वही वास्तव में प्रतिभा-दृष्ट सृष्टि होती है, दूसरों का कर्त्तव्य यही होता है कि उसकी सही अनुवृत्ति बना रखें। दूसरों में प्रतिभा नहीं होती, हाँ, उसकी पहचान हो सकती है। इसलिए उनमें यह क्षमता भी होती है कि प्रतिभा-दृष्ट रचना की अनुवृत्ति बनाये रख सकें। पर यहाँ भी साम और बाख़-बीथोवन की धुन-दृष्टि में एक अन्तर है जिसको एक प्रश्न के सहारे भी आँक सकते हैं : प्रतिभा-दृष्ट धुन की अनुवृत्ति—या आवृत्ति—कैसे रखी जाये ताकि धुन के स्वरूप पर धब्बा न आये? यहाँ प्रश्न परमार्थ और व्यवहार के सम्बन्ध का ही समझिये। सम्बन्ध टेढ़ा है, कई तरह से देखा जा सकता है और देखा गया है। कुछ लोग यह भी मानते आये हैं कि परमार्थ और व्यवहार इतने परस्पर भिन्न हैं कि परमार्थ को व्यवहार में उतारा ही नहीं जा सकता।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



पर बिना सम्बन्ध के कोई बात बनती नहीं है। विचार अचल हो जाता है। पर सम्बन्ध को बिल्कुल अछूता नहीं तो अपेक्षया कुछ परोक्ष किया जा सकता है। बाख़-बीथोवन मूलक धुन का एक सम्प्रदाय मानता है कि. परमार्थ का बोध हमारी ऐसी वृत्ति में रहता है जो स्वभावतः व्यवहार से अछूती है। बुद्धि यही वृत्ति है। वही धुन प्रयोग के सौ परिवर्तनों—विकृतियों—से अछूती रहती है, रह सकती है। यह दृष्टि एक प्रकार की 'अति' दृष्टि है, परमार्थ और व्यवहार के भेद को भेद के चरम पर रखना चाहती है। कहना न होगा कि यह दृष्टि एक दृष्टि-विशेष ही है, नहीं तो बाख़-बीथोवन के प्रयोग होते ही नहीं। पर इस दृष्टि में एक और बात भी निहित है जो ऊपर की चर्चा में ऊह्य है। बात को उभारें तो एक विचार का अभिप्राय दिखाई देता है जो प्रतिभा और बुद्धि में एक पते के भेद पर निर्भर करता है। प्रतिभा सृजन की वृत्ति है और किसी किसी ही में होती है। बुद्धि अधिक साधारण है, पर वह प्रतिभा-दृष्टि को परख सकती है, अपने गर्भ में 'शुद्ध' रख सकती है। कुछ कहेंगे कि व्यवहार में भी उतार सकती है—चाहे अपने शुद्ध रूप में न सही। दूसरे कहते हैं कि ऐसा नहीं हो सकता। यही अतिदृष्टि वाले लोग हैं। पर एक वृत्ति-भेद यहाँ उभरता ही है : सृजन की वृत्ति में और उसके ग्रहण की वृत्ति में एक मौलिक अन्तर उभरता है। और देखने की बात यह है कि यह वृत्ति-भेद धुन और आलाप में भी एक आत्यन्तिक विच्छेद सा कर देता है। प्रतिभा धुन को 'देखती' है, उसका 'सर्जन' करती है, इसके विपरीत आलाप व्यवहार की अनचाही माँग है, धुन को व्यवहार में लाने के लिए आलाप अनिवार्य है पर यही धुन के 'धुनत्व' को, उसकी 'शुद्ध' प्रतिभा को विकृत भी करता है। दोनों के बीच में बुद्धि है जो प्रतिभाहीन होती हुई भी प्रतिभा को यों का यों संजोये रख सकती है। व्यवहार में जो दोष आते हैं उनके प्रति जागरूक भी रह सकती है, क्योंकि बुद्धि को हम प्रतिभामुखी मानने के साथ-साथ प्रयोग या व्यवहारमुखी भी मान सकते हैं। नहीं तो बुद्धि प्रतिभा की अनुवृत्तिं का साधन बन नहीं पायेगी। आलाप बुद्धि जैसे 'मध्यस्थ' की अपेक्षा नहीं करता। आलाप का निषेध साम में भी है, पर नितान्त निषेध नहीं है। तभी साम प्रतिभा-दृष्ट परमार्थ —धुन—और व्यवहार के बीच किसी और वृत्ति का ढाँचा नहीं खड़ा करता। धुन के अनेकान्त की स्वीकृति में इसीका इंगित है। प्रतिभा की असाधारण 'आर्ष' दृष्टि वहाँ भी अपना अलग परमार्थ-निष्ठ स्थान रखती है, पर उसका प्रयोग—या व्यवहार—से सम्बन्ध में एक सूत्र सा है—वहाँ विच्छेद नहीं सातत्य प्रधान है। हमने ऊपर देखा कि साम के परमार्थ को ओंकार के रूप में भी देखा-साधा जाता था। ओंकार साम का ही नहीं परमार्थ का भी परम प्रतीक है। ओंकार में अर्थ नहीं, न स्वर है, पर ओंकार का स्वर और शब्द दोनों में 'उच्चारण' किया जा सकता है। उसे अर्थ दिया जा सकता है—वह परम का पर्याय है—और उच्चारण होगा तो स्वर अपने आप ही आ जायेगा। और यों उसको 'रूप' देना उसके 'अभिप्राय' के विरुद्ध भी नहीं होगा। पर है वह अरूप ही.। अमूर्त, अस्वर, अशब्द। उसके मर्म को जो धारणा प्राण देती है वह वाक् के वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परावाक्, इस एक-सूत्र

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



सोपानवत् क्रम की धारणा है, जहाँ क्रम का परम निर्वाक् है। पर 'वाक्' से विच्छिन्न नहीं। इस क्रम में बुद्धि जैसे मध्यस्थ की आवश्यकता नहीं है। इसलिए प्रतिभा भी इस दृष्टि में व्यवहार्य हो सकती है; पर एक तारतम्य के साथ, जो इस क्रम में निहित है।

पर अनुवृत्ति की समस्या फिर भी रह जाती है। साम वही होगा जो इस क्रम में स्थित होगा। हम कह सकते हैं कि इस क्रम में उतरी हो तो कोई भी 'धुन' साम ही होगी और यह क्रम चेतना में स्वभाव-स्थित है। इस वैविध्य और अनेकान्त को हम मान भी लें—और यह अनेकान्त ही नहीं 'अनेक' मात्र का परम बीज भी है, रूपं रूपं प्रतिरूपं बभूव का बीज, पर हम यह मान भी लें तो भी अनुवृत्ति की समस्या रह जाती है। वाक् के परम से उतरते सोपान की स्थिति 'व्यवहार्य' हो सकती है, पर होती असाधारण ही है। व्यवहार में हमारी साधारण चेतना के लिए तो समस्या यही है कि सोपान-उतरी कृति की पहचान कैसे हो? पहचान हो जाये तो प्रवृत्ति यही होगी कि उसकी अनुवृत्ति बनाये रखने की साधना की जाये। यही प्रवृत्ति धुन को यों का यों बनाये रखने की प्रवृत्ति है जो साम की परम्परा में भी प्रधान रही ही है। परम्परायें क्षीण हो जाती हैं। साम की परम्परा तो यहाँ तक क्षीण हो चुकी है कि वहाँ साम एक ढाँचा भर रह गया है। जहाँ स्वर-साधना भी नहीं रही है, जिसके बिना साम को संगीत ही नहीं कह सकते। कोई भी मन्त्र हो—ऋक्, साम या यजुष्—उच्चारण के बिना मन्त्र नहीं होता। उच्चारण की अनुक्रमी को बनाये रखना लिपि की अनुक्रमी से कहीं कठिन होता है। वेदों के मन्त्रों में उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, ये ध्वनि के उतार-चढ़ाव होते थे। आज इनको कंठ से नहीं हाथ से दिखा देते हैं। पर मन्त्र भाषा में होते हैं, और वर्ण भाषा का शरीर मात्र होता है। अर्थ का कलेवर-रूपी अवयव। फिर वह दूसरे वर्णों के साथ होता है, और वर्णों का संघात एक अवयवी बनाता है, जिसको हम 'अर्थ' के रूप में पहचानते हैं। उस अवयवी को ही भर्तृहरि की परम्परा में स्फोट कहा गया है। इसलिए कि वह अवयव मात्र से, और इससे भी बढ़कर अवयव-संघात मात्र से, परे होता है। इसका एक लक्षण यह भी है कि अवयव का एक सीमा तक विकार भी हो तो भी स्फोट अविकृत रहता है। यह बात लेखन पर और उच्चारण पर दोनों पर लागू होती है। लिखने-बोलने में अक्षर कुछ बिगड़ भी जाये तो भी स्फोट बना रह सकता है। फिर एक बात और है जो लिपि में अधिक स्फुट है। लिपि में अक्षर का रूप कुछ का कुछ हो जा सकता है, फिर भी स्फोट के अवयव के रूप में अक्षर की पहचान स्थिर रह सकती है। इसलिए भाषा में अभिव्यक्त मन्त्र या किसी भी कृति की अनुवृत्ति अपेक्षया सुकर है। अवयवी स्वर-रचना में भी होता ही है। पर स्वर-रचना भाषा से कहीं अधिक उच्चारण-सार होती है। वहाँ स्वर के स्वरत्व को नाद के उच्चारण में बनाये रखना अवयवी को ही बनाये रखने के लिए आवश्यक है। यहाँ स्फोट में अवयव-अवयवी सम्बन्ध भाषा से भिन्न है क्योंकि यहां शब्दार्थ जैसा कुछ नहीं बनता। पर साम की परम्परा में लगता है कि स्वर की साधना के बिना ही साम को बचाये रखने की प्रवृत्ति सदियों से जड़ कर चुकी है। यह ओंकार की तरह साम को निःस्वर बनाने

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



का प्रयत्न नहीं है, उसे विस्वर ही बचा रखने की अकारथ सी चेष्टा है। इसलिए साम की धुन आज धुन भी नहीं है, उसके यों के यों रहने की तो बात ही क्या?

जैसाकि ऊपर की बातों में ऊह्य है, साम की धुन को सचमुच बचाने की चेष्टा होती और संगीत के रूप में उसकी अनुवृत्ति बनी रहती तो बदलाव होता, धुन कुछ न कुछ आलाप की परिधि में आ ही जाती। अनुवृत्ति की बात यह भी देखिये कि आलाप में अनुवृत्ति की बात सार्थक सी नहीं लगती। फिर भी आलाप में अनुवृत्ति की बात मैं समझता हूँ कि हम कर भी सकते हैं। हम आलाप के माध्यम से राग की अनुवृत्ति करते ही हैं। आलाप से ही सही, यहाँ भी 'राग' के किसी 'वही' को बचाने की चेष्टा होती ही है। हम यहाँ तक कह सकते हैं कि ऐसी अनुवृत्ति हो ही आलाप के माध्यम से सकती है। पर यहाँ भी कुछ वैसे ही प्रश्न उठ सकते हैं जो धुन के विषय में उठते हैं : क्या राग की ठीक ठीक अनुवृत्ति हुई कि नहीं? क्या राग के भाव—या 'अर्थ' कहिये, या मर्म—उसकी सही प्रतिमा बनी कि नहीं? और फिर कुछ गहरे उतरते हुए यह भी कि अनुवृत्ति में राग का उत्कर्ष सधा या अपकर्ष? यह अन्तिम प्रश्न आम तौर पर उठाया नहीं जाता है, 'ठीक' और 'सही' का ही प्रश्न साधारण है, पर 'ठीक' और 'सही' के प्रश्नों में इसका आशय छुपा रहता ही है। बल्कि यह भी कहना समीचीन होगा कि धुन के बारे में उत्कर्ष-अपकर्ष का प्रश्न उतना चुभता हुआ नहीं होता जितना आलाप के बारे में—क्योंकि धुन का 'वही' उत्कर्ष का भी 'वही' समोये रहता है—प्रतिभा की जिस नाभि में धुन उतरी है वह उत्कर्ष का भी स्थान है, नहीं तो उसके प्रतिभा-दृष्ट होने का कोई अर्थ ही नहीं बनता।

पर आलाप में उत्कर्ष-अपकर्ष का आधार क्या? उसका स्वरूप क्या? उसको आँका समझा कैसे जाये? संगीत एवं चिन्तन में मेरा ध्यान इन प्रश्नों की ओर नहीं गया है। और जैसा कह आया हूँ, धुन के अपकर्ष-उत्कर्ष की भी बात किसी विवेचना का रूप लेकर नहीं उठी है। पर यहाँ आलाप को लेता हूँ। आलाप को अगर मैं मनुष्य की सहज प्रतिभा मानता हूँ, नवोन्मेष और उससे उपजते बदलाव का स्वभावनिष्ठ स्रोत, तो प्रश्न भी स्वभावतः उठेगा कि इसमें और प्रकृति के जीव-प्रवाह में जो नवीन-रूपों का, तज्जात नव-नव जीव-प्रकारों का जो स्वयंभू उद्‌गम होता है, उसमें क्या अन्तर है? आज का प्रचलित और लगभग सर्व-स्वीकृत सिद्धान्त ही है कि जीवमात्र में रूपान्तरण की एक सहज प्रक्रिया विद्यमान है और यही प्रक्रिया नये नये जीव-प्रकारों को जन्म देती रही है, उसी प्रक्रिया का अवसान या 'परिणाम' कहिये—मनुष्य है। इस प्रक्रिया में एक 'विकास'—उत्कर्ष की ओर बढ़ती धारा—भी देखी जा सकती है, पर सिद्धान्त यह है कि प्रक्रिया वास्तव में यदृच्छा पर ही टिकी है, निरुद्देश्य है, किसी अर्थ या प्रयोजन का संधान नहीं करती। उसमें उत्कर्ष जैसा कुछ दिखता हो तो वह आगन्तुक है—या आँखों का धोखा कहिये। और उत्कर्ष है भी तो कदाचित् की बात है, प्रकृति का अधिकतर आलाप हमारे ही आलाप की तरह वृथा, अकारथ होता है—यादृच्छिक होने के कारण निष्प्रभ ही

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



नहीं निष्फल। जैसे 'शीशम के लाखों बीज' हवा में उड़ते हैं, फल कुछ-एक बन पाते हैं। यहाँ इस सिद्धान्त के सत्य-असत्य की बात छोड़िये। इसको रूपक या दृष्टान्त की तरह लीजिये। क्या मनुष्य की प्रतिभा का नवोन्मेष भी ऐसा है, और उसमें उत्कर्ष है तो आगन्तुक? यह भी प्रश्न उठ सकता है कि क्या वह उत्कर्ष काल के साथ स्वतः सोपान चढ़ता चला जाता है, जैसा हम जीव-विकास में देखते हैं? यह दूसरा प्रश्न अटपटा ही लगेगा। कुछ लोग हैं जो जीव-विकास की एक ही कड़ी को मनुष्य के इतिहास से भी जोड़ते हैं और वहाँ भी विकास की वही शृंखला—एक नये रूप में—देखते हैं। पर संगीत और ऐसे ही दूसरे शिल्पों-कलाओं के क्षेत्र में ये लोग भी कुछ ठिठक ही जाते हैं। यहाँ विकास की कोई सीधी—या टेढ़ी बल खाती भी—रेखा, खींचना एक बड़ी विकट, और बड़ी साफ झलकती खैंचतान से ही हो सकता है। पर पहला प्रश्न तीखा प्रश्न है और उसे टाल देना कठिन।

मनुष्य में प्रतिभा अगर सहज गुण या स्वरूप-सिद्ध कुछ है तो होगी भी सपाट ही। वह मनुष्य की 'प्रकृति' ही होगी, और प्रकृति की तरह ही 'सिद्ध' या प्रदत्त वस्तु। एक प्रवाह की तरह। बस चलती चली जाती है। कहीं जाती नहीं। उसका फिर कोई साध्य, कोई पुरुषार्थ नहीं ठहरता। उत्कर्ष-अपकर्ष की तो बात ही नहीं उठती। अगर उत्कर्ष-अपकर्ष है भी तो आगन्तुक—क्योंकि फिर जड़ प्रकृति की तरह मनुष्य की प्रकृति में भी प्रतिभा का उत्कर्ष-अपकर्ष स्वयंभू है, और इस अर्थ में स्वयंभू कि आगन्तुक है : प्रतिभा कुछ 'साधती' नहीं, बस अपनी अंध गति से 'बहती' है। कुछ अपने आप सध जाये तो वह आगन्तुक और यादृच्छिक है। उसके पीछे कोई पुरुषार्थ जैसी साधना नहीं। और हाँ, न उसकी पहचान हो सकती है। पर हम जानते हैं कि बात सच नहीं है, और सच हो तो कही नहीं जा सकती—न सोची जा सकती है। प्रकृति में—चाहे मनुय्य-प्रकृति में—जो होता है होता है। उसे आगन्तुक या कुछ और कहना, यह प्रकृति का काम नहीं, जैसी प्रकृति की हम यहाँ बात कर रहे हैं। क्योंकि हम जब 'विकास' को आगन्तुक कहते हैं तो उत्कर्ष-अपकर्ष के बोध में बैठ कर ही कहते हैं। यह बोध प्रकृति-बाहर है। विवेक जैसी कोई वृत्ति ही इसकी चर्चा कर सकती है। आप कह सकते हैं कि विवेक भी आगन्तुक है, उसी 'विकास' की सीढ़ी पर है जो प्रकृति में स्वयंभू है। ऐसा कहा भी जाता है। पर एक तो ऐसा कहने से बात ही बदल जाती है—प्रकृति की भूमि से उठ कर विचार की भूमि पर आ जाती है, जो कि विवेक की भूमि है। विचार में 'आगन्तुक' एक प्रत्यय है जो दूसरे प्रत्ययों से जाँचा-समझा जायेगा, जिनमें 'अनागन्तुक' और 'उद्दिष्ट' भी है। 'आगन्तुक' कहने का अर्थ ही यह होता है कि हम किसी वस्तु या घटना को 'उद्देश्यहीन' बताना चाहते हैं। यह बात उद्देश्य की धारणा को ध्यान में रखते हुए ही कही जा सकती है। हम फिर भी कह सकते हैं कि विचार-विवेक का होना ही आगन्तुक है—ऐसा कहा भी जाता है : इस अर्थ में आगन्तुक कि वह प्रकृति से उद्भूत है, उसी जड़ प्रक्रिया में उसका उद्भव हुआ जिस प्रक्रिया में प्रकृति की अन्य 'वस्तुएँ' उद्भूत

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



होती हैं। पर ऐसा कहें तो बात और भी विवेक— और विवेचना—के घेरे में आ जायेगी, क्योंकि यह 'जड़वाद' की बात है, एक तत्त्व-दृष्टि की बात, विवेचना के बाहर जिसका कोई रूप ही नहीं।

पर चलिए माना कि विवेक का 'उद्‌भव'—शब्द को चाहे जिस भी अर्थ में लें—प्रकृति में और प्रकृति-जात मनुष्य में निरुद्देश्य, आगन्तुक है, तो भी वह 'है', इससे तो इनकार नहीं किया जा सकता। वह है तभी उत्कर्ष-अपकर्ष की बात होती है। इससे इनकार नहीं किया जा सकता। हमारे लिए यहाँ प्रश्न है कि प्रतिभा के सहज नवोन्मेष करते आलाप से उसका क्या सम्बन्ध है? क्या प्रतिभा और विवेक दो भिन्न वृत्तियाँ हैं जो अपने अपने रास्ते चलती हैं? यह तो बड़ी विषम और अनुभव-विरुद्ध बात होगी। पर दोनों का साथ कैसा है, और उत्कर्ष-अपकर्ष से इसका सम्बन्ध क्या है?

**संगीत और चिन्तन** में मैंने प्रतिभा के साथ व्युत्पत्ति की भी बात की है और दोनों में ही 'प्रतिभा' की बात की है। राजशेखर के शब्दों में एक को कारयित्री प्रतिभा कहा है, दूसरी को भावयित्री प्रतिभा। 'प्रतिभा' के ही इन दो 'भेदों' में यह ऊह्य है कि ये एक ही तत्त्व के दो पक्ष हैं—इस एकत्व की बात की शायद पुस्तक में विमर्श के साथ चर्चा नहीं है। कारयित्री और भावयित्री में एकत्व का सम्बन्ध मैंने पुस्तक में दूसरी तरह से दिखाया है—कवि और सहृदय (काव्य-परीक्षक) को एक ही सूत्र में बाँधते हुए और यह कहते हुए कि कवि भी सहृदय होता है। वहाँ (पुस्तक में) यह भी कहा है कि कविता बनी या नहीं यह बात कारयित्री प्रतिभा नहीं कहती, भावयित्री प्रतिभा ही कहती है।

इस पर थोड़ा सा विचार कीजिये तो बात को दो दिशाओं में ले जाया जा सकता है। हम यह कह सकते हैं कि कारयित्री और भावयित्री युगनद्ध हैं, एक ही प्रतिभा के दो पक्ष हैं। हम यह भी कह सकते हैं कि दोनों भिन्न हैं, कवि अलग होता है, सहृदय अलग। और कवि भी अगर सहृदय होता है तो काल-भेद से और वृत्ति-भेद से होता है, एक ही साथ दोनों नहीं होता। कविता करते समय वह कहीं और होता है कविता को तोलते-जाँचते समय कहीं और। कई लोग ऐसा कहना भी चाहेंगे, कवियों के अनुभव से इसे सिद्ध करना चाहेंगे—कवि कहते ही हैं कि मैं कहीं और था, या मुझमें कुछ और था। पर एक तो यह बात भावयित्री के बारे में भी कही जा सकती है—काव्यपाठ करते हुए भी हम कहीं और हो सकते हैं। और दूसरे—और यह बात यहाँ उच्चार के कहना चाहूँगा—कि विवेक कविता का भाव करते हुए ही नहीं, कविता करते हुए भी जागा रहता है—हम एक शब्द को छोड़ते हैं, दूसरे को चुनते हैं, विवेक-विमर्श में तोलते रहते हैं। यह हम कह सकते हैं कि कृति और भावन में विवेक के उद्देश्य में भेद होता है। उनके आत्म-बोध में भी भेद होता है तो क्या होता है, इस प्रश्न में यहाँ नहीं जाऊँगा। पर हम कला-कर्म के क्षेत्र में विवेक को एक विशेष विवेक कहें तो फिर तो भाव-विवेक, ज्ञान-विवेक और फिर कर्म-विवेक और दूसरे कुछ और विवेकों में—जैसे अध्यात्म-विवेक—इनमें स्वरूप-भेद करना पड़ेगा, और यह भेद करेगा कौन सा विवेक? क्योंकि विवेक के बिना भेद होगा कैसे?

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



विवेक में फिर भी क्षेत्र-विशेष के अनुसार 'विशिष्ट' कुछ माना जा सकता है, पर इस प्रश्न को यहाँ छेड़े बिना चर्चा को यहाँ थोड़ा आगे बढ़ाता हूँ। यहाँ इतना स्पष्ट है कि उत्कर्ष-अपकर्ष की बात प्रतिभा को विवेक से युगनद्ध किये बिना नहीं हो सकती। चलिए **संगीत एवं चिन्तन** के ही रास्ते बात को आगे बढ़ाता हूँ। यों सोचिये। प्रतिभा के अगर दो पक्ष हैं, भावयित्री और कारयित्री, जैसाकि अभी ऊपर भी कहा, तो आलाप का नवनवोन्मेष दोनों में होगा। प्रश्न है, भेद का या दोनों के परस्पर युगलभाव का? कारयित्री को हम अगर सहज या मनुष्य में प्रकृति-सिद्ध कहें तो क्या भावयित्री के आलाप को भी उसी अर्थ में 'प्रकृति-सिद्ध' कह सकते हैं? कहें भी तो बात क्या बनेगी? न दोनों में भेद का कोई बीज मिलेगा न सम्बन्ध का। हाँ, विवेक किसी अर्थ में मनुष्य की प्रकृति है—पर वह मात्र 'सिद्ध' नहीं है, उससे अधिक साध्य है। भावयित्री की भूमि विवेक ही है। हम कह सकते हैं कि कारयित्री के निसर्ग-प्रवाह को भावयित्री दिशा देती है, सोपान देती है। इसीसे उत्कर्ष-अपकर्ष का आधान होता है, और उत्कर्ष-अपकर्ष का ही नहीं उस गुण-भेद का भी आंधान होता है जिसकी हम ऊपर बात कर आये हैं—क्योंकि साध्य में सोपान-भेद ही नहीं दिशा-भेद भी होता है।

पर कारयित्री और भावयित्री के मेलन का यह जो छोटा सा चित्र मैंने अभी सामने रखा उसे यों ही रखें तो एक विच्छिन्नता उभरती दीखती है—दो व्यापारें का एक द्वैत, जैसे दो भिन्न क्रियाओं में कोई बाहर का जोड़ बिठाया जा रहा हो, अन्तरंग सम्बन्ध न हो। कारयित्री निसर्ग-प्रवाह है, भावयित्री उसी को कहीं-कहीं ले जाती है, ऊपर भी उठा देती है। यह चित्र अटपटा, सपाट सा, जड़ सा है। प्रतिभा के जिस सृजन-व्यापार का चित्र है उसके मर्म को नहीं उभारता। सफाई में हम कह सकते हैं कि व्याक्रिया या विश्लेषण का रूप ही ऐसा होता है कि वह मर्म के निगूढ़ को काटछाँट कर अलग-अलग बाँट देता है। और इसीसे मर्म खुलता भी है। हाँ, बात एक हद तक सच हो भी सकती है : व्याक्रिया की कुछ कुछ यही गति है। पर व्याक्रिया का सम्बन्ध अगर विवेक से है और यों भावयित्री प्रतिभा से, तो गति प्रतिभा से उजागर भी होनी चाहिये, जो ठीक हो नहीं रही।

एक बड़ा कारण, मैं समझता हूँ, प्रतिभा के द्वैत का स्वीकार है। सृष्टि-कर्म के नवोन्मेष में, जहाँ सचमुच कुछ सृजता है, यह द्वैत नहीं होता नहीं लगता। ऊपर के विवेचन में एक बड़ी अनबूझी गुत्थी यह भी है कि भावयित्री का सम्बन्ध अगर विवेक से और विचार या विमर्श व्यापार से है तो सत्य से है। अगर संगीत का और कारयित्री का आलाप रस-संधी है, जैसा मैंने पुस्तक में कहा है, तो भावयित्री का आलाप सत्य-संधी ही कहा जा सकता है—अब इस 'सत्य' को चाहे जैसे समझें। अगर कारयित्री और भावयित्री सचमुच युगनद्ध हों, उनमें परस्पर-भाव और परस्पर-नेय-भाव हो जैसा यहाँ कह रहा हूँ, तो रस और सत्य में भी अभेद या अद्वैत होगा; उसके बिना भावयित्री और कारयित्री का संकर कैसे दूर होगा? मेलन कैसे बनेगा? हमारी व्याख्या और व्याक्रिया में इसका भी समाधान होना चाहिये। अब इस 'चाहिये' का इंगित यह है कि **संगीत एवं चिन्तन** से

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



मुक्त होकर आलाप की नई दिशा लेनी चाहिये। यहाँ बातचीत शल्य जी से हो रही है। लेख के पाठक से कहना न होगा कि शल्यजी ने 'सृजन' की व्याख्या में एक विस्तृत और गहन पर प्रांजल तत्त्व-दर्शन प्रस्तुत किया है। सचमुच ही व्याख्या करनी हो तो यहाँ भी तत्त्व-चिन्तन अनिवार्य है। पर यहाँ उसका स्थान नहीं, और न मुझे अंपने मनन में कोई व्याख्या उपलब्ध दीखती है। कुछ नये प्रश्न, विचार की कुछ नई दिशायें जो शल्य जी और अन्य मित्रों की लिखी-अनलिखी समीक्षाओं से उठी हैं, उनसे प्रेरित चर्चा यहाँ मैंने छेड़ी भर है। चर्चा छिटपुट है, पर इसको एक गुम्फ देने का प्रयास किसी बात का उत्तर सा देने में नहीं, नई चर्चा में ही हो सकता है। पर वह कभी और।

फिर भी भावयित्री पर थोड़ी चर्चा और आगे बढ़ाता हूँ। यह सोचिये कि भावयित्री को आलाप कहने का आशय क्या? एक गंभीर आशय होना चाहिए धुन से उसकी व्यावृत्ति। भावयित्री आलाप है तो एक व्यापार है—निरन्तर चलता व्यापार। उसका कर्म यह नहीं कि 'धुन' जैसी किसी 'वस्तु' का संधान करे और उसे पकड़ ले। यह निरन्तर कर्म नहीं। फिर धुन की अनुवृत्ति कोई और निचली भूमि का कर्म बन जाता है। भावयित्री आलाप है तो कदाचित् का कर्म नहीं। गुण और उत्कर्ष साधना उसका सतत स्वभाव-कर्म ही हो सकता है।

फिर भावयित्री अगर स्वभाव से विवेकशीला है तो वह कारयित्री के निसर्ग-सिद्ध आलाप को यादृच्छिक से उद्देश्यमय बनाने में लगी रहती है। उसे व्यवस्था, गुण और उत्कर्ष देती है। जो भी हो ये तीनों लक्षण धुन में भी अपेक्षित हैं। पर ये राग में भी होते हैं। अन्तर यह है कि राग बनता ही आलाप से है, लेकिन उसमें एक खुलापन होता है, एक चरिष्णुता, जिसका धुन में अभाव साधा जाता है। इसीलिए धुन को बुद्धि जैसे आलाप से अछूते किसी लोक में रखना पड़ता है। भावयित्री आलाप है तो उसकी परमार्थ-साधना सहज प्रयोगमय 'व्यवहार्य' है। उसमें धुन की अनुवृत्ति जैसी अलग और परमार्थ-विच्छिन्न प्रयोग-परम्परा की कल्पना आवश्यक नहीं—फिर जैसाकि हमने देखा यह परम्परा भी प्रयोग में आलाप से अछूती नहीं रह सकती। पर आलाप में व्यवस्था है तो धुन की ओर उन्मुख प्रवृत्ति भी है—इसीलिए राग की हर प्रस्तुति धुन जैसी नियत रूपता में देखी जा सकती है—तभी आलाप की साधना में ऐसा भी होता है कि राग कभी आलाप-प्रवाह के ऐसे द्वीप बन जाते हैं जिनका नदी से अलग अस्तित्व भी हो जाता है—ये ही धुनें हैं। ये आलाप की ऐसी सन्तति हैं जो नये आलाप की प्रेरणा भी बनती हैं—स्वयं स्थिर रह कर ही उसे गति देती हैं। अगर इन्हें केवल अनुवृत्ति के माध्यम से बचाया जाये तो आलाप जड़वत् हो जाता है और ये भी । पर ये बीज का भी काम कर सकती हैं—आलाप के प्राण की प्रेरणा बन सकती हैं। इनके संरक्षण की यही सार्थकता है। अन्यथा ये जड़ हैं। ये बीज का काम करती हैं तो आलाप और आलाप-प्रसू राग में फलीभूत होती रहती हैं। हम कह सकते हैं कि ये नई धुनों की भी जननी बनती हैं—जैसा पश्चिम में होता ही है। पर एक तो यह नवोन्मेष आलाप के ही माध्यम से होता है, दूसरे ऐसे में धुन की अपने आप में कोई विशेष महिमा नहीं होती—राग से उसमें अन्तर यही

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



होता है कि उसमें राग का प्रांजल खुलापन नहीं रहता। यह भी देखिये कि धुन विशेष को हम सँजोना-बचाना चाहते हैं, जैसे बाख या बीथोवन की धुन। धुन मात्र के प्रति हमारा यह भाव नहीं रहता। अगर धुन की प्रतिभा मात्र में कोई विशेष प्रतिबोध है जो उत्कर्ष की चोटी की ओर ही ललकता है, तो हर धुन साम या बाख-बीथोवन होनी चाहिये। पर ऐसा होता नहीं। चार दिन चलती फिल्मी धुनें भी होती ही हैं। धुन को अगर हम आलाप-प्रसू राग की ही एक निबद्ध अवस्था मानें, जैसी कि यहा कल्पना है, तो उसमें उत्कर्ष-अपकर्ष का तारतम्य भी सहज समझ में आ जायेगा। भावयित्री अगर हम में विवेक का सहज आलाप है तो उसमें वही सहज तारतम्य भी है जो हम अपने और दूसरों के प्रयोग और व्यवहार में पाते हैं। क्योंकि वह आलाप है तो गुण-उत्कर्ष की ललक है—साधना की प्रज्ञा है जो कई भूमियों पर हो सकती है, जिसका चोटी पर ही होना अनिवार्य नहीं है। उसमें फिल्मी धुन से लेकर साम तक का तर-तम-भाव बन सकता है।

प्रश्न होगा कि कारयित्री और भावयित्री के आलाप परस्पर अनुस्यूत कैसे होते हैं? दोनों के एकत्व का बीज या आधार क्या है? उत्तर का एक पक्ष सहज है : मनुष्य की विशेष चेतना जो आत्मचेतना के रूप में प्रकट होती है, वही उसका आधार है। फिर भी कारयित्री और भावयित्री के भेद और उनके सम्बन्ध का प्रश्न बना ही रहेगा। और फिर यह भी कि क्या कारयित्री को भी हम आत्मचेतन मानेंगे, और उसी अर्थ में जिसमें कि भावयित्री को? हमने कहा तो यह है कि कारयित्री का कर्म जड़-प्रकृति का सा निसर्ग-कर्म है। उसे किस अर्थ में आत्मचेतन कहेंगे?

यहाँ 'आत्मचेतना' ही के अर्थ पर थोड़ा सा विचार करें तो बात आगे बढ़ सकती है। आत्मचेतना का एक अर्थ हो सकता है कि वह केवल देखती है—उसमें विशुद्ध साक्षीभाव है। पर फिर उसका कोई अपना आलाप नहीं हो सकता, न विवेक ही हो सकता है। क्योंकि विवेक भी कर्म है, निष्क्रिय-भाव नहीं। निष्क्रिय हो तो वह कारयित्री पर कुछ कर ही नहीं सकता। उसको दिशा देना तो दूर की बात है। पर भावयित्री कारयित्री को 'चलाती' है, इसका अर्थ क्या? उत्तर सरल नहीं है।

हम अपने अनुभव को लें। मैंने आलाप को संस्कृति की प्रवृत्ति कहा है। बात को कुछ और व्यापक करें तो अपने अनुभव पर भी उतरता देख सकते हैं—संस्कृति की प्रवृत्ति की घटक तो हमारी ही प्रवृत्ति है, जो अनुभव में प्रकट होती है। अनुभव में हम विवेक, और जिसे 'सहज' निसर्ग प्रवृत्ति कहा जा सकता है उसका, एक विचित्र सा मेल देखते हैं। दोनों को अलग किया भी जा सकता है, जैसा हम यहाँ कर रहे हैं, पर थोड़ा भी डूब कर देखें तो अलगाव नहीं भी है। एक भेदाभेद सा है, जो पहेली खड़ी करता है। उसे बूझने की चेष्टा एक अलग ही प्रयास चाहती है। यह चेष्टा आगे कभी। शल्य जी की भी पूरी बात पर यहाँ प्रतिक्रिया नहीं हुई है। बात को खुला रखता हूँ। यहाँ बहुत कह लिया है, एक बार समापन करता हूँ।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

# राग और रस*

पंडित ओमकारनाथ ठाकुर

## पूर्वार्ध

संगीत में राग है। राग यानी अनुराग, राग यानी प्रेम। और जहाँ राग है, प्रेम है वहाँ रस होगा ही होगा। जीवन का तमाम तत्त्व स्नेह में और स्नेहजनित रस में निमज्जित है। जीवन की यह सरसता जिसमें संचित है वह संगीत-संस्कृति आज यहाँ अवतीर्ण होने को समुत्सुक है।

राग यानी रति। राग यानी स्नेह, राग यानी रंग : 'रंजयति इति रागः।' राग प्रेम का पर्यायवाची शब्द है और प्रेम तथा शृंगार दोनों एक ही अर्थ के लिए उपयोग में लाए जाने वाले शब्द हैं और शृंगार तथा रस एक ही वस्तु के दो पहलू। जल और पय, राग और रस, प्रेम और शृंगार—परस्पर इस कदर घुले मिले, निबद्ध और समरूप हैं कि उनका पृथक्करण लगभग असंभव है। फिर भी अगर करना ही हो तो नीर-क्षीर न्याय की हंस-वृत्ति को विकसित किये बिना गुज़ारा नहीं।

'रस्यते इति रसः' इस शब्द की यह व्युत्पत्ति है : रस-प्रद, जिसका स्वाद लिया जा सके, चखा जा सके, रसा जा सके वह रस। आम लोग तो आमतौर पर रसना के स्वाद को ही रस कहके जानते हैं। मगर रसना ही नहीं अन्य इन्द्रियाँ भी रसास्वादन करती हैं। जैसे श्रवणेन्द्रिय का रस, कृष्ण की मुरली का मधुर रस, जगत्-प्रसिद्ध है। श्रवणेन्द्रिय के रस की यह पुराणकथा—जड़-चैतन्य, पशु-पक्षी तथा पंचमहाभूतों पर मुरली के उस मधुर नाद का कैसा स्निग्ध और स्थायी प्रभाव है यह किसी से छिपा नहीं है। श्रीमद्भागवत के रचयिता से लगाकर आज तक के तमाम कवि और शुकदेव से लगाकर तमाम गायक जिसे गाते नहीं अघाए उस रस की प्रशंसा कौन, किस तरह किस भाषा में कर सकता है?

श्रवणेन्द्रिय के रस की ही तरह हमारी दृष्टि में भी एक अलौकिक रस-सृष्टि विद्यमान है। आँखों से अमि, हलाहल और मधु जैसे रसों को बरसते देखकर कई कवि गा उठे यह सच है लेकिन सिर्फ कवियों, सूफियों या भक्तों ने ही आँखों के इस अपार रस का

---

* यह लेख मूलतः गुजराती में महाराजा सयाजीराव तृतीय स्वर्ण महोत्सव में दिये गये दो व्याख्यानों का हिन्दी अनुवाद है। गुजराती मूल में यह उपर्युक्त महोत्सव के ग्रंथांक I में प्रकाशत हुआ। उन्मीलन के लिए इसका अनुवाद करने के लिए हम श्रीमती ज्योत्स्ना मिलन के प्रति आभारी हैं। अगले अंक में डॉ. मुकुंद लाठ की इस प्रसंग पर व्याख्या भी प्रकाशित की जाएगी।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



स्वाद जाना हो ऐसा नहीं है, बल्कि हमारे जीवन के हर क्षण की अनुभूति इस बात की गवाही देती है कि दृष्टि में भी इसकी अपरंपार सृष्टि समाहित है। जो कोई दृष्टि के इस रस-सर में निम्मज्जित नहीं हुआ है उसने जीवन के सार को भी नहीं जाना है।

हमारे शास्त्रों में तो जल, पय, घृत, तेल आदि सबको ही रस कहा गया है और इनकी बिक्री न करने की आज्ञा भी फरमाई गई है। इतना ही नहीं, हम सभी जानते हैं चन्द्रमा से सोमरस टपकता है और इसी के सिंचन से कवि और प्रेमी बनते हैं। आयुर्वेद में पारदादि रसों को भी रस संज्ञा से ही जाना गया है। हमारे पूर्वाचार्यों ने परब्रह्म की पहचान भी 'रसो वै सः' कहकर ही कराई है। इसी तरह भीतर की भावोर्मियों के उद्रेक में अमूर्त-अनंग सा होते हुए भी जिसका रसास्वादन आत्मा को रस-निमग्न करता है ऐसे रति आदि भावों को भी रस की ही पहचान मिली है।

रागों के साथ जिन रसों का नाता है वे भावोद्रेक से उद्भूत होते हैं, सुख-दुःखादि संवेदन से जागृत होते हैं, उन श्रृंगारादि रसों के बारे में जान लेना अनुचित न होगा। साहित्य दर्पणकार पंडित विश्वनाथ लिखते हैं 'पुण्यवंतः प्रमिण्वन्ति योगिवद्रसन्ततिम्', जिस तरह कोई योगी ही ब्रह्म का साक्षात्कार करता है उसी तरह कोई पुण्यात्मा ही रसास्वाद को जानता है। श्रृंगारादि रसों का आस्वादन और अकलित आनंद सच ही अनिवर्चनीय है।

काव्य, नाटक या उपन्यास सुनते, देखते या पढ़ते हुए जो सुख-दुःखादि संवेदन भीतर जागते हैं, भावोद्रेक में आत्मा जिसे अनुभव करती है उन भावों को वाणी देना कितना कठिन है? कहने का आशय इतना ही है कि अंतरतम में जागने वाले, भाव में परिणमित होने वाले और रूपक में दृश्यमान होने वाले ये सारे भाव प्रसंगानुरूप आत्मा को रसास्वादन कराते हैं। जो रसास्वाद कराएँ वे सभी रस हैं। संगीत के स्वरों से और स्वरों से निबद्ध राग-रागिनियों में भी उच्चार-भेद के चलते और स्वरांत-भेद से नाट्यशास्त्र-वर्णित रसों का स्वाद संप्राप्त होता है। संगीत और साहित्यशास्त्र में यों तो नौ रसों को प्रमुख माना गया है लेकिन क्रम-विकास की दृष्टि से श्रृंगार, रौद्र, वीर और अद्भूत को विशेष मान्यता प्राप्त है। इन्हीं चार में से बाकी रसों का उद्भव. माना गया है।

इन रसों के प्रादुर्भाव की आर्ष कथा अग्निपुराण में अति सुंदर, मधुर, क्रमबद्ध तथा यथार्थ रूप में वर्णित जान पड़ती है। रसोत्पत्ति की वह कथा इस प्रकार है—

जो अक्षर परब्रह्म, सनातन, अज और विभु है उसका अपना सहज आनन्द जब अविभक्त होता है तब आनन्द की वह अभिव्यक्ति चैतन्य, चमत्कार और रसरूप हो जाती है। उस अक्षरब्रह्म के आद्य विकार का ही नाम है अहंकार। अहंकार से ही त्रिभुवन में व्याप्त अभिमान प्रकट हुआ। अभिमान से जागा ममत्व और उस ममत्व से राग-रति या प्रीति उत्पन्न हुई। इस राग, रति और प्रीति से श्रृंगार का प्रादुर्भाव हुआ और इसी तरह तीक्ष्ण से रौद्र का, गर्व से वीर का तथा संकोच से वीभत्स का जन्म हुआ। इसी क्रम में श्रृंगार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत और वीभत्स से भयानक रस निर्मित हुए।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



अगर ईश्वर रसस्वरूप है—रसो वै सः—तो वही सारे रसों का आधार है। रस क्या है? वह ईश्वर के आनन्द की अभिव्यक्ति है। ममत्व के विकास के बिना किसी भी किस्म का आनन्द संभव ही नहीं और अहंभाव के बिना अस्तित्व भी असंभव ही है। इसीलिए ईश्वर के आद्य विकार को ही अहंकार कहा गया है। अहंकार से ही ममत्व और उसी से प्रेम जागता है और प्रेम हमेशा अपने ही आनन्द में निमग्न रहता है, इसकी तन्मयता दूसरे को देख ही नहीं पाती। सुख की इस धार में विक्षेप पड़ते ही रौद्र रस जाग उठता है। और क्रोध रौद्र का स्थायी भाव है, तिस पर क्रोध और गर्व का गहन सम्बन्ध है। उत्पन्न व्याघात से मुकाबला करने को प्रेम उत्तेजित हो उठता है। यह उत्साह ही वीर रस का जनक है। मुकाबले के दौरान किसी विशेष वजह से ममत्व में विक्षेप डालने वाले के प्रति घृणा जाग उठती है और ममत्व संकुचित होता है। ममत्व का यह संकुचन ही वीभत्स है।

शृंगार, रौद्र, वीर तथा वीभत्स इन चार रसों के माध्यम से अन्य चार रसों की उत्पत्ति कैसे हुई? महर्षि भरत कहते हैं कि शृंगार की अनुकृति यानी हास्य, इतना कहना पर्याप्त नहीं है। शिष्य की गायकी में गुरु की कला की तस्वीर के दिखने से हास्य का उत्पन्न होना आवश्यक नहीं है। इसी तरह किसी के बोलने की, वेशभूषा की या चलने की नकल से विनोद पैदा तो होता है लेकिन इसे भी शुद्ध या सात्त्विक हास्य नहीं कहा जा सकता। 'शृंगारानुकृतिर्या तु स हास्य इति संज्ञितः' लिखते हुए विकृत चेष्टा या विकृत नकल जैसा अर्थ भरतमुनि को अभिप्रेत न रहा होगा, फिर भी अनुभूति से आत्मा जिसे आनंद मानती है उस आनन्द को ही उन्होंने हास्य माना हो ऐसा मानने की कई वजहें हैं।

ईश्वर की तमाम कृतियाँ और अनुकृतियाँ सर्वदा और सर्वथा आनन्ददायी हैं इसीलिए भरत ने किसी अन्य रस की ही नहीं बल्कि शृंगार रस की अनुकृति को ही हास्य कहा है।

कोई व्यक्ति आवेश में किसी को कटु बोल बैठता है तो अगले की आत्मा व्यथित हो उठती है और उसका हृदय शोक से द्रवित हो रो पड़ता है। रुला देना रौद्र का ही कार्य है इसी से शास्त्रकारों ने रौद्र से करुण की उत्पत्ति मानी है।

वीरों के पराक्रमों को देख-सुनकर आश्चर्य और विस्मय का होना अवश्यंभावी है। इसीलिए वीर के कर्मों को अद्‌भुत का जनक माना है। युद्धभूमि के जुगुप्सा-प्रेरक वीभत्स दृश्यों को भयानक रस का उत्पत्ति-स्थान माना है।

आमतौर पर प्रचलन में नौ रस हैं और इसके आधार में 'निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः', यह विचार है, हालांकि भरतमुनि के बाद के कई आचार्यों ने काफी विचार-विवेचन के बाद वात्सल्य भाव को भी रस में शामिल करने का आग्रह रखा है और कई दृष्टियों से यह ठीक भी है।

पूर्वाचार्यों ने अंतर में उद्‌भूत होने वाले इन शृंगारादि नौ रसों के रंगों और देवताओं की भी कल्पना की है। केवल कल्पना ही नहीं की है उन्हें सुनिश्चित भी किया है। आज के अंधकार युग का मनुष्य इसे माने या न माने इसकी परवाह किये बिना मैं तो 'पूर्वाचार्यों'

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



के इस कथन में पूर्णतया वैज्ञानिक सत्य निहित है, इस बात में श्रद्धा रखते हुए इसका उल्लेख किये बिना आगे नहीं बढ़ सकता हूँ।

मुझे पता है कि एक बार सप्त स्वरों के सप्त रंगों की ग्रंथस्थ कथा का नवीनों ने मज़ाक बनाया था, लेकिन आज विज्ञान ने प्रमाणित कर दिया है कि सूर्य की सप्त रश्मियों में सप्त रंग निहित हैं और वे ही इन्द्रधनुष में दृष्टिगोचर होते हैं। इन सात स्वरों और रंगों के बीच अद्‌भुत साम्य है इस बात को सप्रयोग प्रमाणित किया गया है।

नाट्यशास्त्र में भरतमुनि द्वारा दर्शाए गए शृंगारादि रसों के रंग और देवता इस प्रकार हैं—

| रस | रंग | देवता | रस | रंग | देवता |
|---|---|---|---|---|---|
| 1. शृंगार | श्याम | विष्णु | 5. वीर | गौर | महेन्द्र |
| 2. हास्य | सित | प्रमथ | 6. अद्‌भुत | पीत | ब्रह्मदेव |
| 3. रौद्र | रक्त | रुद्र | 7. वीभत्स | नील | महाकाल |
| 4. करुण | कपोत | यम | 8. भयानक | कृष्ण | काल |

इन रसों की निष्पत्ति के बारे में महर्षि भरत लिखते हैं—'विभावानुभाव व्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः'। यानी कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी या संचारी भावों के संयोग से रस-निष्पत्ति होती है। इस सूत्र पर टीका करते हुए काव्यप्रकाशकार मम्मट कहते हैं—रति, हास्य, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, ग्लानि, आश्चर्य एवं निर्वेद आदि स्थायी भावों के जो कार्य, कारण एवं सहयोगी होते हैं उन्हें नाट्य, काव्य, संगीत में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव कहा जाता है। विभावादि के संयोग से जो स्थायी भाव व्यक्त होता है उसे ही रस कहा जाता है।

साहित्य-दर्पणकार भी इस सिद्धान्त की पुष्टि यह कहकर करते हैं कि श्रोता और द्रष्टाओं के रत्यादि भावों को जो विभावित करता है, अर्थात् रसास्वादन-योग्य बनाता है, वही विभाव है। विभाव के दो प्रकार हैं—(1) आलंबन, (2) उद्दीपन। रति आदि स्थायी भाव नायक-नायिका पर अवलंबित हैं इसलिए वे आलम्बन विभाव हुए और चंद्र-चन्द्रिका, वन, पवन, उपवन आदि रति को उद्दीप्त करते हैं इसलिए ये उद्दीपन विभाव हुए।

अनन्तर आते हैं अनुभाव। इसका अर्थ है—अनुभावयन्ति इति अनुभावाः। अर्थात् रत्यादि स्थायी भावों का जो अनुभव कराएँ वे अनुभाव हैं।

व्यभिचारी या संचारी भावों के बारे में पंडित विश्वनाथ कहते हैं—रत्यादिक स्थायी भावों में प्रादुर्भाव और तिरोभाव पाने वाले जो निर्वेदादिक भाव संचरण करते हैं उन्हें व्यभिचारी या संचारी भाव कहा जाता है और इन विभावादि भावों के संयोग से ही रत्यादि स्थायी भाव रस-संज्ञा को प्राप्त होते हैं।

स्थायी भाव यानी क्या? और ये स्थायी भाव क्यों कहलाए? 'रसावस्थः परम्भावः स्थायितां प्रतिपद्यते', यानी जो भाव रस अवस्था को प्राप्त होता है वह स्थायी भाव है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



रस गंगाधर के अनुसार नमकीन समुद्र जैसे तमाम चीज़ों को अपने में न केवल समो लेता है बल्कि उन्हें भी लवणमय बना देता है उसी तरह विरोधी-अविरोधी भाव जिसे विच्छिन्न नहीं कर पाते, बल्कि जो विरोधी भावों को भी अपने स्वरूप में परिणत कर लेता है वही स्थायी भाव है।

चिरकाल से जो चित्त में विद्यमान है और विभावादि के साथ सम्बन्ध बाँधकर जो रस रूप से रहता है उसी का नाम स्थायी भाव है।

जो भाव सजातीय या विजातीय भाव से तिरस्कृत न हो और आस्वादन के दौरान निरन्तर मूर्त्तिमंत रहे, वही स्थायी भाव है।

भरतमुनि के कथनानुसार जिस प्रकार मनुष्यों में राजा, शिष्यों में गुरु, उसी तरह सभी भावों में स्थायी भाव श्रेष्ठ माने जाते हैं।

भावों में जैसे स्थायी भाव श्रेष्ठ हैं वैसे ही रसों में शृंगार रस को आद्य और श्रेष्ठ मान। जाता है। समस्त संसार में जो कुछ भी सुन्दर है, पूत है, दर्शनीय है, उज्ज्वल है उसे ही मुनियों ने शृंगार रस कहा है। इसी का समर्थन गीता में रसेश्वर भगवान् कृष्ण ने किया है 'धर्माविरुद्धो लोकेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।' 'हे अर्जुन, लोक में मैं धर्म से अविरुद्ध काम हूँ।' यानी शुद्ध शृंगार और पवित्र काम को भगवान् ने अपनी विभूतियों में गिनाया है। यही वजह है कि हमारे महर्षियों ने भी रति जिसका स्थायी भाव है, ऐसे उज्ज्वल रूपात्मक शृंगार को आद्य रस कहा है।

"स्मरकरम्बितान्तःकरणयोः स्त्रीपुंसयो रिरंसा रतिः स्मृताः', यानी 'स्त्री-पुरुष के काम-वासनामय हृदय की परस्पर रमणेच्छा' का ही नाम रति है और देवादि विषयों में रति, प्रेम, अनुराग का नाम भक्ति है। हृदय में जागने वाले भावों को प्रेम कहो, भक्ति कहो, रति कहो या शृंगार कहो, इनका संवेदन ही रस है। यही जीव-धर्म है, प्राणिमात्र की सहज प्रेरणा है। इसीलिए कबीर ने गाया—"पोथी पढ़ि पढ़ि . . . ढाई आखर प्रेम के पढ़े मो पंडित होय", और इसी से शास्त्रकारों ने दर्ज किया—

सर्वे रसाश्च भावाश्च तरंगा इव वारिधौ।
उन्मंज्जन्ति निमज्जन्ति यत्र सः प्रेम संज्ञकः॥

अर्थात् समुद्र-तरंगों की तरह तमाम रस और भाव जिसमें जागते और विलीन होते हों उसी का नाम प्रेम है। ब्रह्मांड का कौन सा व्यापार है, भूतमात्र की कौन सी क्रियाएँ हैं जो रति या प्रेम के लिए ही संचालित न हुई हों? जगत् का सृजन या विसर्जन भी क्या रति या प्रेम के चलते ही नहीं है? संसार की कोई भी कलाकृति आद्योपांत प्रेम के अलावा क्या है? कवि की प्रेरणाशक्ति भी प्रेम और उसके जीवन की कृति भी प्रेम। इसी तरह संगीत के राग और रागिनियाँ, उसके आलाप, तान, उसकी गमक मुर्कियाँ जहाँ कहीं से सुनाई देंगी, जहाँ कहीं उत्सुक कान दिये जाएंगे वहाँ वहाँ सब कहीं प्रेम का ही पारावार गरज और गूँज रहा होगा। ढोला-मारु या लैला-मजनू जैसी प्रेम-कथाओं का उत्स रति या शृंगार को छोड़ क्या है? राधा-कृष्ण के सम्बन्ध में हजारों कवियों द्वारा विरचित पद प्रेम लक्षणा भक्ति के प्रतीक नहीं तो क्या हैं?

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



आमतौर पर शृंगार के तीन भेद माने जाते हैं : अयोग, संयोग और वियोग। संयोग-शृंगार के विशद वर्णन को अश्लाघ्य माना गया है और यह ठीक भी है। कविकुल श्रेष्ठ कालिदास के लिए, और उन्हीं की वजह से संभवतः, 'निरङ्कुशाः कवयाः' जैसी उक्ति प्रचलन में आई होगी। एक वजह यह भी होगी कि संयोग-शृंगार में अनेक भेद पैदा नहीं हो पाते हैं जबकि विप्रलंभ में संप्राप्ति के अभाव में और वियोग में भी मन की अनेक अवस्थाएँ और हृदय की अनेक भूमिकाएँ देखी जाती हैं। ऐसे अनेक कारणों से विप्रलंभ के विपुल वर्णन पढ़ने, देखने में आते हैं और जीवन में भी ऐसे अनुभव होते हैं।

परस्पर के प्रति आकृष्ट युगल के मिलनपूर्व की अवस्था को अयोग कहा गया है। इस अवस्था में दोनों जीव दस भाव-दशाओं का अनुभव करते हैं—(1) अभिलाष—जिसके प्रति आत्मा सदा खिंचती रहे। (2) चिन्तन—प्रिय के दर्शन-श्रवण से उत्पन्न अवस्था। (3) स्मृति—प्रिय-स्मरण में ही मन रमा रहे। (4) गुणानुकीर्त्तन—प्रिय के बारे में लगातार आंतर-बाह्य कथोपकथन। (5) उद्वेग—अप्रांप्ति से उपजी खिन्नता और तज्जन्य उद्वेग। (6) विलाप—उद्वेग के स्थागित्व से आत्मा का विलाप में विलीन होना। (7) उन्माद—संप्राप्ति की आशा के लगातार टूटने से प्राप्त अवस्था। (8) उन्माद—जिससे व्याधि प्रकट होती है। (9) व्याधि से जड़ता और (10) जड़ता से मरण।

पार्वती-परमेश्वर के संयोग-शृंगार का उन्मुक्त वर्णन कालिदास ने कुमारसंभव में किया है। लेकिन तुलसीदास ने कहा कि—'जगत मातु-पितु शंभुभवानी, तेहि शृंगार न कहौ बरवानि।'

संयोग के बाद वियोग संभव है और उसकी कई वजहें हो सकती हैं—कलह, वहम, ईर्ष्या, कर्त्तव्य, राजाज्ञा सहित कई अन्य। राजाज्ञा से वियोग के दुःख को झेलते यक्ष का काव्य मेघदूत, कर्त्तव्यपालन से उपजी वियोग के दुःख की राम-सीता की भवभूति विरचित कथा उत्तररामचरित, जीवन-धर्म तथा अवतार-कर्म की सिद्धि के लिए गोकुल से मथुरा और मथुरा से द्वारका गए और कभी न लौट पाए कृष्ण के दारुण वियोग की महती कथा गोपियों के आँसुओं से लिखी गई हैं। और राधा, जिसके वियोग-दुःख के अपार समुद्र को व्यास, जयदेव, सूरदास, कुंभनदास, परमानन्ददास आदि में से कोई भी कवि नहीं नाप पाया, यहाँ तक कि जिसके विरहवारिधि की थाह तो श्रीकृष्ण स्वयं भी नहीं ले पाए, उसे कलम से कौन उतार सकता है? मथुरा जाते एक पथिक के आगे गोपी प्रलाप में गा उठती है—

ए हो पथिक कहियो उते, वा गिरधर सों टेर।
राधा दृग-जल बरस के, ब्रज ही बुड़ावत फेर॥

श्रीकृष्ण का संदेश लेकर आए उद्धव के गोपियों को मनाने-समझाने, ढाढस बँधाने के सारे प्रयत्न व्यर्थ गए। विरह में भी जागृत स्वप्न का अनुभव करती और कृष्ण के साथ तन्मयता साधती गोपी विरह-वेदना की समाधि से जागकर बोल पड़ी—

ऊधो! सो मूरत हम देखी।
शिवसनकादि सकल मुनि दुर्लभ,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



ब्रह्म इन्द्र नहीं पेखी। . . . ऊधो! सो मूरत . . . ।
जोगत फिरत जुगो जुग जोगी, जोग जतन से न्यारी
सिद्धि समाधे सपने नहीं दर्शी, मोहनी मूरत प्यारी। ऊधो! सो मूरत . . .
निगमागम विमल जस गावै, रहत सदा दरबारी
तिल भर वार-पार न पायो, कह कह तेहि पुकारी। ऊधो! सो मूरत . . .
सो हम ग्रह ग्रह नाच नचायो, तनिक तनिक दधि दे के
रामदास हम रँगी श्याम रँग, जाहु जोग धर लेके। ऊधो! सो मूरत . . .

इस गोपी का गीत सुनकर दूसरी गोपी भाव-समाधि से जागकर गा उठी—

सेस, महेस, गनेस, दिनेस, सुरेसहु जाहि निरन्तर गावैं
जाहि अनादि अनन्त अखण्ड, अछेद अभेद सुवेद बतावैं
नारद से सुक व्यास रटैं, पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं,
ताहि अहीर की छोहरिया, छछिया भर छाछ पै नाच नचावैं।

गोपियों से उपदेश पाकर लौटते उद्धव ने राधारानी से संदेश माँगा, गोपी ने सामने कागज़ धरा, लेकिन राधा की आत्मा देह को वहीं छोड़ मथुरा जा पहुँची और कृष्ण को देखती, उलाहना देती कुछ बुदबुदाती रही। एक-दो-तीन, कागज़ पर कागज़ भीगते चले गए और आँसुओं के प्रवाह में बहते चले गए। राधा को लिखना क्या था?

विरह की ये और ऐसी अनन्त कथाएँ, वेदनाएँ, अनंत रूपों, रंगों में मानव-जीवन में और सृजन में संगीत, नाटक, कविता के माध्यम से स्वर या शब्द में उतारने के अनेकानेक प्रयत्न हुए हैं। नाट्याचार्य भरतमुनि का नाट्यशास्त्र भी ऐसी ही एक अमर कृति है। ऐसी तमाम अमर कृतियों के आधार पर ही राग और रस के व्याख्यान की इमारत खड़ी करने का मेरा यह लघु प्रयत्न है।

अब प्रस्तुत है अयोग, संयोग और वियोग की अवस्थाओं से उपजने वाले सूक्ष्म-स्वभाव गुणों और परिस्थिति के चलते निर्मित कुछ भेदों का विवेचन। इन सभी भेदों को पृथक् दर्शाते हुए शास्त्रकारों ने नायक-नायिका-भेद का विस्तार से निरूपण किया है।

नायिका किसे कहा जाए? एक कवि ने नायिका की छवि को यों उभारा है—

कंकन करन, कल किंकिणी कलित कटि
कंगुरा कुच, केस कारी जामिनी।
कानन करण फूल, कोमल कपोल कंठ
कंबुक कपोत कीर, कोकिल कलामिनी
केसर कुसुम कलद्योत की कछु न कांति
कोविद प्रवीण, बेनी कमिर गामिनी
कोक कारिकासी किन्नरी को कन्यकासी
कल काम की कला-सी कमली-सी खासौ कामिनी।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



नायिका के मूल चार भेद माने गए हैं—पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी, हस्तिनी। इन चारों की प्रकृति के अनुसार दूसरे तीन भेद माने गए हैं—उत्तमा, मध्यमा और अधमा। इनमें भी धर्म-भावना, कर्त्तव्य-भावना आदि की दृष्टि से अन्य तीन भेदों का भी स्वीकार किया गया है—स्वकीया, परकीया और सामान्या। इसके अलावा उनके सम्मान के आधार पर दूसरे तीन भेद गिनाए गए हैं—मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा। तदनन्तर इनकी मानसिक अवस्था का अन्वेषण करते हुए निम्नांकित भेद माने गए हैं—खण्डिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, उत्कण्ठिता, वासकसज्जा, स्वाधीनपतिका, अभिसारिका, प्रोषितपतिका, आगतपतिका। और भी अधिक सूक्ष्म भेद के तौर पर—प्रेम-गर्विता, रूप-गर्वितां, गुण-गर्विता, ज्येष्ठा, कनिष्ठा, अज्ञातयौवना, ज्ञातयौवना, नवोढ़ा, विश्रब्धवोढ़ा, मानिनी, रति-प्रीता, आनन्दसम्मोहा, मध्याधीरा, मध्याअधीरा, प्रौढ़ाधीरा, प्रौढ़ाअधीरा, ऊढ़ा, अनूढ़ा, भूत गुप्ता, वर्तमान गुप्ता, भविष्य गुप्ता, अन्यसुरतदुःखिता, वचन-विदग्धा, क्रिया-विदग्धा, मुदिता, लक्षिता, अनुशयाना, कुलटा तथा गणिका आदि।

नायिका-भेद की तरह ही शास्त्रकारों ने नायक-भेद भी गिनाए हैं। उन सबका उल्लेख इस एक व्याख्यान में संभव नहीं है, फिर भी स्वर को समझने की आपकी उत्सुकता को परितुष्ट करने के लिए संक्षेप में बताता हूँ—

अन्यसुरत दुःखिता : अपने पति के अंग पर पर-स्त्रीसंग के चिह्न देखकर दुःखी—

मोहे मनावत आया प्रीतम, सगरी रतियाँ सोतन संग जागे,
जावो जी जावो सैंया न मिलौ तुम सन।

कलहान्तरिता : परस्त्री-संग के चिह्न देखकर क्रोधित—

मीठी मीठी बतियाँ करो न मनरंग तुम
वहीं जाव, जिनके छतियन सों लागे / काहे अब तुम आए हो मेरे दुवारे।

प्रेम गर्विता : प्रिय के प्रेम से गर्व करने वाली—

सवतिया काहे को जरि जाय . . . या
हमारी ही ओर देखा करे महबूब . . .

रूपगर्विता : अपने सौन्दर्य पर गर्व करने वाली—

सखि री! पनघट में ना जैयो, नजर लग जाय . . . या
बार बार निरखत दरपनवा . . .

स्वकीया : स्वपति पर अनन्य प्रेम करने वाली—

पिया मोरी आँखन बसेरी, मोरे जी में बसेरी . . .

मुग्धा : अल्पवयस्का—

बाली उमर लरकैंया ना छेड़ो सैंया . . . या
कलियन संग भँवरा लुभाय रह्यो . . .

नवोढ़ा : लज्जा और भय से रति-इच्छा न करने वाली—

मोरी बहियाँ न पकरो गिरिधारी श्याम . . . या
बेदर्दी बालमवा, गलबहियाँ न डारो सैंया . . .

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



**विश्रब्धवोढ़ा :** कुछ भय, कुछ लज्जा के चलते प्रिय से दूर रहने की इच्छा वाली स्त्री—
मेरी छाँड दे अँचरवा, मैं तो न्यारी झूलौंगी . . .

**आनन्दसम्मोहा :** सुरत केलि में तन्मय होने वाली स्त्री—
बाँह गहत सुध-बुध बिसरानी . . .

**रति-प्रिया :** सुरतकेलि की इच्छा को दर्शाने वाली—
पिया जागो . . . पिया जागो . . . अकेली डर लागे रे।

**मानिनी :** प्रीतम से मान करने वाली—
न मानूंगी, न मानूंगी, न मानूंगी
मैं तो उनके मनाए बिना न मानूंगी . . .

**ऊढ़ा :** विवाहित पति के अलावा अन्य के साथ प्रेम करने वाली स्त्री—
मन अटकी छवि नागर नट की. . .
केसर मोर मुकुट माथे पर, वनमाला गल लटके . . .

**अनूढ़ा :** मनपसंद युवक को चाहने वाली अविवाहिता कन्या—
ठाड़ी माँगे वरदान शिव मंदिर में . . .
मन जाहि राच्यो मिलहिं सो वर / सहज सुंदर साँवरो . . .

**प्रोषितपतिका :** पति के विदेश जाने से दुःखी विरहिणी नायिका—
सावन आयो आज पिया नहीं आए . . .
पिया बिन रतिया हमरी कटे ना . . .

**खण्डिता :** प्रिय के अंग पर अन्य स्त्री संग के चिह्न देख जिसका मन खण्डित हुआ है—
कहाँ रात जागे, साची कहो बालम . . .
जावो सैंया जहाँ रैन गँवाई . . .

**विप्रलब्धा :** संकेत स्थान पर प्रिय के न मिलने से व्याकुल स्त्री—
बता दे सखी कौन गली गयो श्याम . . .

**स्वाधीनपतिका :** जिसका पति सदा जिसकी आज्ञा के वश में रहे ऐसी नायिका—
प्यारी को श्रृंगार करत नंदलाल . . .
चलो पियु वाहि कदम तर झूले . . .

**अभिसारिका :** स्वयं ही प्रीतम के पास जाने वाली—
सैंया किंवरिया खोलो रस की बूँद झरे . . .

**प्रवत्स्यपतिका :** प्रिय को विदेश जाते देख दुःख पाने वाली—
सावन लागो आज बालमवा अब ना जैयो . . .
बेगी ऐयो बालम बिलम मति रहियो . . .

**मिक्षिता :** जिस नायिका को परपुरुष रति-चिह्न लक्षित करते हों—

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



**सैंया से लागे दो नैना, मैं जान गई . . .**

**झूल रही नैनों हिंडोरे की झूलन . . .**

**मुदिता :** पर-पुरुष के साथ प्रेम का अवसर मिलने की संभावना से प्रसन्न होती स्त्री—

**भलो बनो संजोग सैंया चले परदेस . . .**

**कुलटा :** अनेक पुरुषों का संग करने वाली स्त्री—

**दिलदार यार छयला से नैना लगाएंगे . . .**

हमारे संगीत के ख्याल, ठुमरी, दादरा, चेती, कजरी में तथा हर प्रांत के लोकगीतों में ऐसे भावों का और अनेक नायक-नायिका भेदों का दर्शन-श्रवण होता रहता है।

यह विषय इतना विस्तृत, गहन, व्यापक, गूढ़ और मानसशास्त्रीय है कि एक एक रस का और नायिका-भेद के एक एक लक्षण का विस्तृत विवेचन करने के लिए कई व्याख्यान आयोजित करने होंगे। कल इस विषय 'रसशास्त्र' के उत्तरार्द्ध में रसशास्त्र वर्णित हृदय के उद्रेक सुख-दुःखादि संवेदन तरंग तथा शृंगारादि रसों, स्वरों, राग, रागिणी, ताल, लय आदि में कैसे निर्देशित होते हैं, इसका आस्वाद लेंगे।

## राग और रस
## (उत्तरार्द्ध)

कल हमने काव्य, संगीत या नाटक में आने वाले सिर्फ रसों के सम्बन्ध में ही विचार किया। आज स्वर, राग तथा तज्जन्य रसों का विचार करेंगे। आप जानते ही हैं कि स्वर सर्वव्यापी तत्त्व है। 'शब्दगुणमाकाशम्, तच्चैकं विभु नित्यं च' इस सिद्धान्त के मुताबिक शब्द कहें, नाद कहें या स्वर कहें, यह आकाश का ही गुण है और आकाश की ही तरह उसका गुण भी विभु, नित्य एवं अद्वितीय है। इस नाद की विशद व्याप्ति को बखानते हुए महर्षि मतंग ने कहा है—

**नादेन त्यज्यते वर्णः, पदे वर्णात्पदाद्वचः।**

**वचसो व्यवहारो यं, नादाधीनमिदं जगत्॥**

अर्थात् आकाशसंभूत नाद से वर्ण, वर्ण से पद, पद से वाक्य, वाक्य से भाषा, और भाषा से ही संसार का समूचा व्यापार चलता है, इसलिए जगत् को नाद के अधीन माना गया है।

हम प्रतिक्षण महसूस करते हैं कि समग्र जीव-समुदाय तथा जड़-चेतन के अनन्तनाद हमारे कानों से टकराते हैं, उन्हें हम अलगाते हैं और अलग-अलग ढंग से पहचानते हैं। इन पृथक् नादों की पहचान से ही जगत् का संपूर्ण व्यवहार संचालित है। मनुष्य ही नहीं प्राणिमात्र आवाज़ की भिन्नता को पहचानते हैं। प्यार, तिरस्कार, भय आदि भावों को बिना शब्द के सिर्फ नाद से पहचानते हैं। तमाम पशु-पक्षी दूर-दूर से स्वजनों की आवाज़ें सुनते हैं, पहचानते हैं और परस्पर को उसी आधार पर खोज लेते हैं। मनुष्य ने भाषा को

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA


विकसित किया है। किसी भाषा से अपरिचित व्यक्ति निसर्गसिद्ध नाद का ही सहारा लेता है।

अकारादि स्वर के बिना जैसे व्यंजन पंगु हैं उसी तरह विशेष प्रकार के उच्चारण के बिना वाणी भी पंगु है। जैसे, जिसका कोई विशेष अर्थ नहीं है वैसा 'हं'-कार भिन्न स्वरोच्चार से कई अर्थों को जगाता है। प्रश्न, आश्चर्य, हकार, नकार, राहत, हताशा, स्वीकार, अस्वीकार, व्यंग्य, मज़ाक जैसे भावों की अभिव्यक्ति सिर्फ स्वर-भेद, उच्चार-भेद तथा अभिनय-भेद का ही तो खेल है। संगीत की, स्वराभिनय की भी, ऐसी ही विशाल भाव-सृष्टि है।

सात स्वरों के श्रुत्यादि तथा तीव्र-कोमलादि भेदों को मिलाकर एक सप्तक में बाईस नाद-भेदों को स्वीकार किया गया है। यह प्रत्येक नाद उसके सप्तक-भेद से, उच्चार-भेद से, श्रुत्यन्तर, स्वरान्तर, संवादान्तर, अनुवादान्तर तथा विवादान्तर के भेद से भिन्न-भिन्न भावों की रसधार बहाता है। उदाहरण के तौर पर सा को लिया जाए। मन्द्र, मध्य एवं तार तीनों सप्तकों के तीनों सा सा की दृष्टि से सा ही हैं। फिर भी विचारपूर्वक सूक्ष्म कर्ण से सुनने पर आप पाएंगे कि मन्द्र सा प्रौढ़ है, गंभीर है, शांत व्यक्तित्व का निर्देशक है जबकि तार सप्तक का षड्ज युवा, उद्दाम तथा सरल प्रकृति का सूचक है। एक शांतिदाता है दूसरा जागृति-प्रेरक।

दैनंदिन व्यवहार का भी यही अनुभव है। प्रौढ़, वयस्क, धीरोदात्त पुरुष मन्द्र स्वर में, मन्द्र सप्तक में गंभीरतापूर्वक, विलंबित गति से शब्दोच्चार करते हैं जबकि युव-जनों का शब्दोच्चार उच्च स्वर में, तार सप्तक में और द्रुत लय में होता है।

एक ही स्वर के भिन्न-भिन्न उच्चार क्या कहते हैं? किन भावों को अभिव्यक्त करते हैं? पहले कोमल गॅ के भिन्न उच्चार गाकर सुनाता हूँ—पहली बार में निरायास, दूसरी बार में लघु उच्चार, तीसरी बार दीर्घ उच्चार, चौथी बार प्रलंबित गॅ, फिर मंद गाया, फिर प्रकंपित किया, अनन्तर आवेश में, क्रोध के कंपन को मिलाते हुए। यानी गॅ को मन्द्र से शुरू करके विकसित करते हुए बुलन्द प्रचण्ड आवाज़ के आन्दोलन से गुंजा दिया और कभी कड़ाकों से शुरू करके मन्द्र करते करते अति सूक्ष्म अवस्था तक ले गया। इस प्रकार अनेक गमक, अनेक ढंग से, अनेक स्वर-संदर्भ से, संयोजित स्वरविधानों से ऊपर या नीचे के अन्य स्वरों के ईषत् स्पर्श से और विभिन्न लयों के भेद से और उन सबकी सहायता से भावोद्रेक की कैसी अभिव्यक्ति होती है तथा कैसी रस-सिद्धि होती है, यह दर्शाने का प्रयत्न किया।

शब्द की वाणी में भाव-निर्देश के लिए व्यंग्य, काकू, स्वल्पविराम, अर्धविराम, पूर्णविराम, प्रश्न, उद्गार आदि का उपयोग करना पड़ता है। संगीत में भी इन चिह्नों को स्वरोच्चार से बहुत आसानी से दर्शाया जा सकता है।

शब्द को ही सर्वस्व मानने वाला कोई पूछ सकता है कि बिना शब्द का संगीत क्या है? लेकिन जिसने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से स्वर को सुना है अक्षर को नहीं, अक्षरब्रह्म

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



को जिसने पहचाना है वह निश्चय ही जानता है कि स्वर की वाणी तो ब्रह्माण्ड के बोल हैं, निसर्ग की वैखरी है, परात्पर की यह परा वाणी है, प्राणी मात्र के भावों की यह अभिव्यंजना है, गूँगे का अबोल बोल है! वीणा की झंकार में जो आनन्द की लहरें उफनती हैं उनमें कौन से शब्दों का अर्थ समाहित होता है? यहाँ गीता का एक वचन याद आ रहा है : "अव्यक्तादीनि भूतानि, व्यक्तमध्यानि भारत! अव्यक्त निधनान्येव।" लगभग इसी तरह मनुष्य अपनी अविकसित आरंभिक अवस्था में स्वर की ही भाषा बोलता समझता है और पूर्ण मनुष्य भी अपनी पूर्ण विकसित अवस्था में अपनी तमाम वाणी का व्यवहार स्वर से ही निबाहता है, क्योंकि वह शब्दातीत अवस्था में ही विहरता है। सिर्फ मध्यम अवस्था में ही सामान्य जन शब्दों को बरतते हैं। शब्द से परे की अवस्था में स्वर के चैतन्य स्पर्श से ही शब्दों के अर्थ, भाव तथा रस की सृष्टि जीवित हो उठती है और तभी जीवात्मा स्वर में आत्मस्थ होकर अन्तस्थ ऊर्मियों के निजानंद को अनुभव करता है। योगी भी स्वर के इसी साधन से ऊर्ध्वगामी होते हैं और स्वर में लीन होकर समाधि के परमानंद को महसूस करते हैं।

अब हम दो स्वरों के बीच सन्निहित अंतराल का और इस अन्तराल से व्यक्त होने वाली भावना का अवलोकन करेंगे। अंग्रेज़ी में जिसे फ्रीक्वेंसी रेश्यो कहा जाता है वही अर्थ और स्वरांतर में अभिप्रेत है। सा तथा कोमल री तथा सा और तीव्र अथवा शुद्ध री इन दोनों के बीच भिन्न-भिन्न स्वरांतर हैं और ये स्वरांतर किस भावना को व्यक्त करते हैं यह अब देखते हैं। स्वर की यह भाषा सीखने, समझने, भीतर उतारने लायक है। मैं गाकर ही बताता हूँ . . .

सा और कोमल री के अन्तर से हृदय के करुण-कोमल भाव क्या व्यक्त नहीं होते? सा री कहते हुए री को अधिक प्रलंबित करके मंद नाद से पुनः सा पर न्यास किया जाये तो "देव! मैं तुम्हारी शरण में हूँ, चाहे डुबा दो, चाहे उबार लो, जिला दो या मार दो, मैं तुम्हारे ही अधीनस्थ हूँ" जैसा आत्मनिवेदन का भाव क्या अभिव्यक्त नहीं होता?

सा और री की ही तरह सातों स्वरों के, उनके कोमल, तीव्रादि भेदों के, इतना ही नहीं, बाईस श्रुतियों के, श्रुत्यंतरों के ऐसे ही अनगिनत भाव और अकल्पित अर्थ पैदा होते हैं। मैं जानता हूँ कि हर स्वर, अपने संयोग, संविधान, उच्चार, सप्तक तथा गमक के भेद से ऐसे ऐसे रूप धारण करता है मानो वे अपने स्वप्न में विहार कर रहे हों, जैसे रस-सृष्टि में किलोल कर रहे हों। इस तरह जिस जिस भाव से तथा जिस जिस दृष्टि से हम उन स्वरों को सुनें और देखें वैसे-वैसे ही नूतन दर्शन हमें होते रहते हैं। इस संदर्भ में महात्मा तुलसीदास की पंक्तियाँ स्मरणीय हैं—

> जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरत देखी तिन तैसी।
> देखहि रूप महा रणधीरा, मनहुँ वीर रस धरे सरीरा॥
> डरे कुटिल नृप प्रभुहि निहारी, मनहूँ भयानक मूरति भारी।
> रहे असुर छल छोणिप वेषा, तिन प्रभु प्रकट काल सम देखा॥ आदि . . .

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



राग-मूर्त्ति या स्वर-मूर्त्ति का भी ऐसा ही है। शब्द का अर्थ, भाव या रस सब लौकिक हैं जबकि स्वर या राग के अर्थ, भाव और रस अलौकिक हैं। विश्वास मानें कि जिसे स्वर का दर्शन होगा, राग का दर्शन होगा वह सदेह ही विदेह हो जाएगा। हर स्वर के हर भाव को समझना या समझाना संभव नहीं है। जो अपरिमित है उसे वाणी में कैसे थाहा जा सकता है? राग-मूर्त्ति का दर्शन दृष्टि का विषय नहीं है, वह श्रवणगोचर है इसलिए राग का पौरुष और रागिनी का स्त्रीत्व शब्द से नहीं बल्कि शब्दातीत होकर ही हम देख पाते हैं।

ये दो भिन्न स्वरावलियाँ आपने सुनीं। इनमें कमनीय-कांति कौन है और प्रचंड पौरुष किसका है? क्या कहा आपने कि प्रथम स्वरालाप में वृषभस्कंध पौरुष की लहीम-शहीम काया आपको नज़र आई और दूसरे में कल्याणमयी कल्याणी के दर्शन हुए? यानी आपका दर्शन पूर्ण है, सत्य है। मेरा राग-दर्शन, उनका पौरुष-स्त्रीत्व, उग्र-व्यवस्था, रूप और रस मेरी पागल कल्पना नहीं हैं, बल्कि वह तो एक वास्तविक जीती-जागती ज्योतिर्मयी दृष्टि है। इसके स्वरानुभव ने जो चेतना जगायी वह अद्‌भुत है। इस चेतना ने मुझे प्रयोगरत और कार्यरत किया और इसकी साधना करते, ग्रंथों का परिशीलन करते, स्वरों के निजानंद का आनंद लेते हुए जो कुछ भी मुझे प्राप्त हुआ उसी के चलते अधिकार से इस विषय को प्रस्तुत कर रहा हूँ। अपने अध्ययन-काल के दौरान सामवेद के 'साम' शब्द की व्युत्पत्ति मुझे देखने को मिली और मेरे भीतर चमत्कार सा हुआ। आश्वलायन गृह्यसूत्र में साम को दंपति के रूप में निरूपित किया गया है :

"मैं 'अम' हूँ, तुम 'सा' हो। 'सा' तुम हो, 'अम' मैं हूँ। मैं द्यौ और तुम पृथ्वी हो, आओ हम एक हो जाएँ, विवाह से जुड़ जाएँ और प्रजा का प्रजनन करें। मेरा नाम 'अम', मैं पतिरूप हूँ और तुम ऋक् पत्नी रूप हो। 'सा' यानी ऋक् और उसके साथ जुड़ा 'अम' यानी स्वर, षडर्षभादि तान-रूप जहाँ प्रवर्तित है वही साम है। 'साम' शब्द में ही स्त्री-पुरुष दृष्टि कितने उत्कृष्ट भाव से निबद्ध है! इसी साम से, साम-संगीत से सृजित आर्य संगीत में भी राग-रागिनियों के दम्पति रूप हों तो इसमें अचरज क्या है? यह दांपत्य-स्नेह संगीत में इस कदर ओतप्रोत है कि रागों का नवीन वर्गीकरण मेल या थाठ के नाम से बहुप्रचारित होने के बावजूद लोगों के हृदय तक नहीं पहुँच पाया है।

अब हम थोड़े पुरुष राग और स्त्री रागिनियों का स्वर-दर्शन करके उनके रसों के लिए आगे बढ़ते हैं। अब बताइए यह रूप कैसा लगा? कोमल? मधुर? या उग्र? आपका नकार सही है। मध्यम पर से कोमल ऋषभ पर गंभीर ढंग से मींड से उतर कर थड़कार के साथ गाँधार के आन्दोलन देकर जो भीषण आन्दोलन जगाया जाता है उससे कोमल ऋषभ का कोमलत्व तिरोहित होकर एक भयानक रूप खड़ा हो जाता है और इस प्रकार आघात के साथ कोमल धैवत और कोमल ऋषभ का उच्चार होते ही भैरव राग की भयानक मूर्त्ति हमारे आगे ताकती खड़ी हो जाती है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



कुछ लोग अनजाने ही भैरव के कोमल ऋषभ-धैवत को भीषण आन्दोलन न देते हुए आमतौर पर उसको कलिंगड़ा, जोगी या रामकली के ढंग से उच्चारित करते हैं और इस तरह भैरव के भैरव स्वरूप का तिरोभाव कर डालते हैं। अन्यथा भैरव को यथारूप में, यथाभाव में और यथारस में समझपूर्वक गाया जाए तो भैरव का प्रौढ़, गंभीर, भीषण रौद्र रूप प्रकट हुए बिना न रहेगा। अब आगे बढ़ते हैं।

यह दूसरा दर्शन है। सामान्य दृष्टि से किसी को लग सकता है कि गौरी और भैरव में साम्य है। लेकिन सूक्ष्म दृष्टि और सोचने वाली बुद्धि दोनों के बीच के अंतर को देख सकती है कि दोनों के स्वरोच्चार में, स्पर्श में, गीत में, स्वर के आन्दोलन में कहाँ, क्या फ़र्क है। भैरव के मुकाबले गौरी के स्वरों को तो जैसे कहीं विराम है ही नहीं, न आन्दोलन है न आघात है, न थड़कार है न धीमी चाल है। गौरी तो जैसे द्रुतगति से पल में यहाँ तो पल में कुलांचे भरती, खेलती, उछलती सी लगती है। गौरी अपने भाव में, रूप में, रस में, उम्र में, उच्चार में, गति में हर मामले में भैरव से भिन्न है। किसी खिल्लाड़ मुग्धा जैसी, उछलती कूदती बालिका जैसी।

स्थूल दृष्टि से उन्हीं उन्हीं स्वरों में अब हम एक नूतन दर्शन करते हैं। जोगी में करुण, कोमल के विलाप हैं—

> **"जिया को मिलने की आस, तुम बिन झरत झरत मोरे थकिये नयनवा**
> **पल पल प्रेम पियास बढ़त है, छिन छिन होत निरास।**
> **तुम बिन घटत घटत मोरा घटिगो जीवनवा।।**

प्रिय मिलन की आशा का तार भी जिसका टूट गया है, विरह की वेदना को सह सहकर जिसके हृदय का अनुराग अस्त हो गया है और विराग जग गया है ऐसे इस जोगी को जब जब देखा, गाया, अलापा, सुना है तब तब लगा है कि खूब रो लूँ।

और यह रही मेरी वागेश्वरी ! यों तो आपने कइयों से कई बार सुनी होगी मगर मेरी तो निराली है। मैंने तो उसे जब जब भी देखा है, उस स्वकीया, मध्याधीरा, प्रोषितपतिका की पलकों में मोतियों को पिरोया ही देखा है।

वागेश्वरी के इन आलापों में कितना करुण विलाप भरा है, व्याकुलता जैसे उफन चली है, वह तो जैसे आत्मा का रुदन है, और आत्मा रोती है तभी वह स्वाति बूँद बरसती है और तभी हृदय के अथाह समुद्र में उपजे, दृगमीन के उदर में सेए गए, और पलकों की सीपी में निखरे अनमोल मोती जगत् को प्राप्त होते हैं। किसी विरह-व्यथित ऋषि ने किसी सुधन्य क्षण में मोतियों की माला गूँथकर विश्व को अर्पित की, वही है वागेश्वरी।

और यह रही मेरी चिर संगिनी तोड़ी। स्वकीया, प्रौढ़धीरा, प्रोषितपतिका। कैसी विरह-दग्धा है ? वागेश्वरी से उसकी दशा एकदम ही निराली है। वागेश्वरी मध्यधीरा है। कभी अन्यसुरत दुःखिता का दर्शन कराती है तो कभी वासकसज्जा का रूप ले लेती है। जबकि तोड़ी प्रौढ़धीरा है, पैंतीस, चालीस से कम नहीं। तोड़ी की विरह-ज्वाला में लपट नहीं है, बस भीतर ही भीतर धूमायित होती रहती है, न कहते बने न सहते। भारी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



हृदय से जिस असह्य वेदना को वह सहती चली जाती है उसकी प्रतिध्वनि क्या कानों से नहीं टकराती?

जैसे कलादीर्घा के अलग-अलग कमरों के अलग-अलग चित्रों को हम देखते हैं, उसी तरह राग-मंदिर में राग और रागिनियों के चित्रों की झलक हमने यहाँ देखी। अब दूसरे खण्ड के स्वर-चित्रों को देखते हैं। ये हैं कम्बोजी (खमाज)। संयोग-शृंगारोत्सुक उस खमाज के सिर्फ चित्र-दर्शन से संतोष नहीं हो सकता। अपनी सूक्ष्म देह से उसके अंतरंग में प्रवेश करने पर ही उसकी भावातुर अवस्था का दर्शन हो पाएगा।

खमाज का एक एक स्वर जैसे उसके हिये का एक-एक बोल हो, उसके अभिनय का एक-एक नखरा हो, उसके नाचते नयनों की एक-एक अदा हो और उसके उफ़नते यौवन का जैसे कामातुर थड़कार हो, कुछ ऐसे ही जैसे भावों को ये स्वर जगाते हैं। हकीकत में तो खमाज जोबन-जल को छलकाने वाली, मदभरी नखरीली नार है—

जा, मैं तोसे नहीं बोलूँगी।
न मानूंगी, न मानूंगी, न मानूंगी॥

हमने खमाज के थोड़े से हिए को देखा, बूझा और परखा, अब उसके अंतःपुर में प्रवेश करते हैं या उसके मेहमान बनते हैं। स्निग्ध तथा मधुर, फिर भी तीव्र, या कमनीय कांति और रमणीय रूप, फिर भी उग्र रूपा जैसे शिवा ने रुद्राणी का अवतार लिया हो, जैसे विधात्री की देह में महाकाली प्रकट हुई हो। क्या वजह होगी उस कल्याणी के पुण्य प्रकोप की? उसकी विशाल आँखें अरुणवर्णी हैं, उनमें रतजगा है, रोष है, आवेष्टन है, मानभंग का तिरस्कार भी है, पति के दुर्वर्तन से व्यथित, उपेक्षा से उत्तेजित, अपमान से कुपित। यह स्वकीया स्त्री जैसे स्त्रीत्व के सम्मान के चलते अपने पति से कह रही है कि जहाँ उसने रात गुज़ारी वहीं वापिस लौट जाए—ऐसे कई भाव सोहिणी के ये तारगामी द्रुत स्वर हमारे सम्मुख कह रहे हैं। सोहिणी के उन ख्याति-प्राप्त पदों में प्रेम-कलह के अलावा क्या है? सोहिणी की द्रुत गति तथा तार-व्याप्ति, उसके स्वरों की रचना तथा उच्चार क्रोध, आवेश, कलह तथा ऐसे ही भावों को व्यंजित करती है। जिस तरह सोहिणी गायी जाती है, गायी जानी चाहिए, उस तरह उसमें अन्य सुरतदुःखिता नायिका के भावों की अभिव्यक्ति हो सके ऐसे काव्यों की रचना से उपर्युक्त भावों की सिद्धि होकर ही रहेगी।

अब आख़िर में एकाध और राग-दर्शन करें। इसके लिए अपनी परम प्रिय रागिनी नीलाम्बरी के धवल मंदिर की ओर चलते हैं। नीलाम्बरी के नाम-स्मरण से ही न जाने क्यों हिया भर आता है। नीलाम्बरी के निवास में चारों प्रहर बदलियाँ बरसती ही रहती हैं और उसके दृग-मीन आँसुओं के जलतरंग में नित्य ही हिल्लोलित होते रहते हैं। आइए इस करुणामयी स्वकीया, सन्नारी के दर्शन कर पावन हों।

जिस राग-दर्शन की प्रत्यक्ष अनुभूति आपने की उसके शास्त्रीय आधार भी खोजने वालों को मिल जाएंगे। हालांकि मध्यकाल में बहुत सारा ग्रंथस्थ वाङ्मय नष्ट हुआ है

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



इसलिए कुछ आधार सुलभ न हों यह भी हो सकता है। इसके अलावा प्राचीन तथा अर्वाचीन राग के रूपों में बदलाव आने से उनमें भेद का नज़र आना ही संभव है। लेकिन मेरे राग-दर्शन का आधार आज गाए जाने वाले राग-रूपों में ही निहित है। वे राग-रागिनियों के काव्य-रूपकों, रंग-चित्रों, लक्षण-गीतों या ऐसे अन्य उपकरणों पर अवलम्बित नहीं है। यों भी अन्य किन्हीं आप्त वचनों की अपेक्षा मैं स्वानुभव और प्रत्यक्ष अनुभूति को अधिक महत्त्व देता हूँ। शास्त्राधार भी तो अनुभव के ही अक्षर बोलता है!

मैं कहना चाहूँगा कि निर्देशित राग-रूपों की तरह ही अन्य राग-रागिनियाँ भी एक एक जीवन्त प्रतिमाएँ ही हैं। धीर-गंभीर और प्रौढ़ है दरबारी कान्हड़ा; चंचल, उद्दाम, थिरकते युवा का सा अड़ाना; शान्त, स्थिर, निर्वेद तथा गौरवान्वित सा मालकौंस; गर्जन-तर्जन करता, थड़कार भरा और कंपाता मेघ, तीक्ष्ण तीर जैसा और क़से वीर जैसा हिण्डोल; प्रफुल्ल और प्रोत्साहन को प्रेरित करता, बहार आदि अन्य सारे राग भी जीते जागते एक एक रस काव्य ही हैं, स्वरचित्र ही हैं। इस राग-दर्शन से आप इतना तो सहज ही समझ पाए होंगे कि ये सारे स्वर-काव्य मनुष्य की अतिसूक्ष्म भावोर्मियों तथा आत्मा की गहन भावलहरियों को सहज सरलता से और शिव सौन्दर्य से मूर्त्तिमंत करते हैं। अमूर्त्त को मूर्त्त करने, निराकार को साकार करने और निर्गुण को सगुण में निरूपित करने का नाम ही है राग। इसी संगीत-भावना को मूर्त्तिमान करने का नाम है कला। स्वर भाव और राग रस में निमज्जित होना और कराना ही सम्यक् गति रचना है। संगीत कला का यही जीवनधर्म है। भाव में डूबकर आत्मैक्य का अनुभव करना और सत्यं, शिवं, सुंदरम् को साधना ही संगीत का ध्येय है। संगीत साधन नहीं, साध्य है, कर्म नहीं बल्कि योग है, जो सदेह ही विदेह की स्थिति में पहुँचा देता है। संगीत ही तो है जों आत्मा को सायुज्य प्राप्ति करवाता है और जीव को शिव में स्थापित करता है!

नौ रसों में से केवल एक रस शृंगार-रति का आलेखन करने में और उसके भावों का उल्लेख करने में इतना समय बीता तो नौ रसों के व्यंजनों, उनके स्थायी, संचारी भावों, उनके प्रत्यक्ष, परोक्ष प्रमाणों आदि का विस्तृत विवेचन, आलेखन या दर्शन सीमित समय के व्याख्यानों में कैसे संभव है?

महर्षि भरत ने नाट्य, काव्य या गीत के बारे में जिस किसी प्रसंग पर जो भी भाव जगाने हों वैसी ही जाति का गायन करने का आदेश अपने ग्रंथ में किया है।

जाति यानी जिसे हम आज राग कहते हैं ऐसा नियमबद्ध, रसवाहक तथा रंजक सा एक गान-स्वरूप। कुछ अन्य चीजों को समझे बिना जाति के स्वरूप को समझना मुश्किल होता है।

सात स्वरों से आप सभी परिचित हैं। विशेष रूप से संगीतावतार गुरुदेव विष्णु दिगम्बर जी द्वारा स्थापित गन्धर्व महाविद्यालय के प्रचार के बाद से सारे लोग इन स्वरों से परिचित हो ही गए हैं। सात स्वर, तीन ग्राम, बाइस श्रुति, इक्कीस मूर्च्छना, छह राग, छत्तीस रागिनियाँ आदि संगीत की विशिष्ट शब्दावली लोक में काफी प्रचलित हुई है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



इसमें प्रयुक्त मूर्च्छना ही क्रमशः नियम से निबद्ध जाति गान में परिणत हुई है। मूर्च्छना यानी ? : क्रमात्स्वराणां सप्तानामारोहश्चावरोहणम्।

अर्थात् सा-से-सा तक क्रमशः आरोह और अवरोह करना और इस तरह क्रमशः प्रत्येक स्वर के आरोह-अवरोह करने का नाम ही है मूर्च्छना। सा सं सा तक चढ़ना और उतरना तथा इसी क्रम में री से री, ग से ग, म से म इस प्रकार स्वरों का आरोह-अवरोह करना ही मूर्च्छना है। और इस प्रकार भिन्न-भिन्न स्वरों को सा मानकर उनका आरोह-अवरोह होने पर उसी में से नए नए स्वर-विधान और राग-विधान उत्पन्न होते हैं। साम वेद में भी प्रातः सवन, मध्याह्न सवन और सायं सवन के समय सामगान भिन्न भिन्न स्वरों से आरंभ होते थे और इसीलिए उनमें से नूतन दर्शन होते थे। इसी क्रम को नारद, कोहल, दत्तल तथा भरत ने भी बनाए रखा है और इसी परंपरा का अनुसरण करते हुए संगीत ग्रन्थों में भी इसी क्रम से मूर्च्छना का निरूपण होता है। इस मूर्च्छना के नाम इस प्रकार हैं—(1) उत्तरमंद्रा, (2) रजनी, (3) उत्तरायना, (4) शुद्ध शड्जा, (5) मत्सरीकृता, (6) अश्वकान्ता, (7) अभिरुद्गता।

षड्जग्राम की इन सात मूर्च्छनाओं का क्रम जैसा मैं पहले बता चुका हूँ उस मुताबिक सा रे ग म प ध नी—आरोह के क्रम में नहीं बल्कि अवरोह के क्रम में लिया जाता है।

षड्जग्राम की मूर्च्छना के अनुसार मध्यम ग्राम की मूर्च्छना भी निर्धारित ही है, उसके नाम इस प्रकार हैं—(1) सौवीरी, (2) हरिणाश्वा, (3) कलोपनता, (4) शुद्धमध्या, (5) भार्गवी, (6) पौरवी, (7) दृष्यका।

मध्यमग्राम की ये सात मूर्च्छनाएँ भी षड्जग्राम की तरह अवरोह-क्रम में ही आयोजित हैं। जैसे—म, ग रे सा नि ध प।

भरतमुनि ने तो किस स्वर से कौन सी मूर्च्छना बनती है इस बात को भी स्पष्ट किया है :

"तत्र षड्जग्रामे षड्जेन उत्तरमन्द्रा, निषादेन रजनी, धैवतेन उत्तरायना, पंचमेन शुद्ध शड्जा, मध्यमेन मत्सरीकृता, गाँधारेण अश्वक्रांता, ऋषभेण अभिरुद्गता इति।"

इसी प्रकार मध्यमग्राम में—मध्यमेन सौवीरी, गाँधारेण हरिणाश्वा, ऋषभेण कलोपनता, षड्जेन शुद्धमध्यमा, निषादेन मार्गी, धैवतेन पौरवी, पंचमेन हृष्यका इति।

पंडित अहोबल के कथन के मुताबिक श्रुत्यादि सूक्ष्म भेदों के संधि-विनिमय से षड्जग्रामिक मूर्च्छना की संख्या 18648 होगी। यानी कि षड्जग्राम की मूर्च्छना के 18648 भेद होंगे और इन भेदों की तान संख्या की गिनती लगाई जाए तो पं. अहोबल लिखते हैं कि शास्त्राधार के अनुसार षड्जग्रामिक तानों की संख्या 13426560 होगी।

इन सभी मूर्च्छनाओं, तानों, गमकों आदि को हृदय में जागनेवाली भावसृष्टि की अभिव्यक्ति के लिए ही उपयोग में लिया जाता है। हर मूर्च्छना में अनेक रागों के बीज सन्निहित होते हैं। इन मूर्च्छनाओं के जब विशेष रूप से दशम दसलक्षण लगाए जाते हैं

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



तभी वे गानोपयोगी, भावप्रदर्शक, रसोत्पादक एवं रंजकतायुक्त जाति का नामाभिधान प्राप्त करती हैं।

नाट्याचार्य भरतमुनि के समय में जो राग या रागरूप प्रचलित थे उन्हें उस समय जाति कहा जाता था और इन जातियों का उपयोग रसगान में तथा नाट्यप्रयोग में किया जाता था। हमने अभी भी जाना-देखा कि मूर्च्छनाओं को दस प्रकार के नियमों से निबद्ध किया जाता है तभी वे जाति संज्ञा को प्राप्त करती हैं। अब इन दस लक्षणों को भी जान लिया जाए। ये हैं—ग्रह, अंश, तार, मन्दन्यास, उपन्यास, अल्पत्व, बहुत्व, षाडवत्व तथा औडुवत्व। इस निष्पत्ति में इनका क्या और कितना प्राधान्य है यह समझने के लिए इन लक्षणों का अर्थ समझना और जाति में हुए इनके उपयोग को समझना ज़रूरी है।

**1. गृह**—यानी गीत, आलाप, आरोह-अवरोह के आरंभ में इस्तेमाल होने वाला स्वर।

**2. अंश**—यानी जो स्वर प्रवृत्ति में शुरू में ही या उठान में ही अंश का स्थान ले उसे ग्रह कहा जाता है। ग्रह स्वर अंश स्वर तब बनता है जब उसे अन्य दस लक्षण लागू किये जाएँ।

अंश स्वर के दस लक्षण भरतमुनि ने इस प्रकार बताए हैं—

**यस्मिन्वसति रागस्तु यस्माच्चैव प्रवर्तते।**
**तेन वै तारमन्द्राणां योऽत्यर्थमुपलभ्यते॥**

यानी जिस स्वर में राग का रागत्व सन्निहित हो या राग, रंग और रस जिसमें बसते हों, जो स्वर रसोत्पादक हो, तथा तार सप्तक में पाँच-पाँच स्वरों तक जिसकी गति हो, रसोत्पत्ति के लिए जो अनेक स्वर-संयोगों से घिरा हो, जिससे सम्बन्धित अन्य संवादी तथा अनुवादी स्वर भी उतने ही बलवान हों, जो ग्रह, उपन्यास, न्यास तथा संन्यास में भी विद्यमान हो, अर्थात् जो गीतालाप के भिन्न-भिन्न विराम-स्थानों में भी रहता हो, ऐसे दस लक्षण युक्त सर्वगामी स्वर को अंश कहा गया है।

**3. तार, 4. मन्द्र**—आप जैसे सुधीजनों के समक्ष तार और मन्द्र सप्तक के अर्थ और परिभाषा बताने की आवश्यकता मुझे नहीं लगती। इसी तरह (5) न्यास, (6) उपन्यास, (7) अल्पत्व, (8) बहुत्व, (9) षाड्त्व, तथा (10) औडुवत्व आदि लक्षण भी संगीत के अध्येताओं के लिए अजाने नहीं हैं। रसनिष्पत्ति के लिए उसके परितोष के लिए किस स्वर पर कितना ठहरा जाए, किस स्वर को अल्प उच्चारित किया जाए, किसका दीर्घ उच्चारण हो, किसे बन्धित और किसे बारम्बार उच्चारित किया जाए, किसे स्पर्श भर से ही दर्शाया जाए और किसे प्रलंब प्लुत उच्चार से प्रस्तुत किया जाए आदि, यह सब न्यास, उपन्यास वगैरह में समाहित है। तद्वत् छह स्वर के षाड्वत्व से और पाँच स्वर के औडुवत्व से जो पूर्णतया युक्त हो तथा जो रागोपयोगी, गानोपयोगी और रसोपयोगी हो उसे जाति कहा जाता है। भरतमुनि ने इस किस्म की रसोत्पादक जातियों के अट्ठारह प्रकार माने हैं और इन अट्ठारह प्रकार की जातियों को तीन वर्गों में विभाजित कर डाला है—

1. सदा संपूर्ण रहने वाली जाति, 2. षाड्व होने वाली जाति तथा ओडुव होने वाली जाति। षड्जग्राम की सात जातियों को मैं यहाँ उनके नाम के साथ बता देता हूँ—

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



(1) षाड्जी, (2) आर्षभी, (3) धैवती, (4) नैषादी, (5) षड्जकैशिकी, (6) षड्जैदीच्यवा, (7) षड्जमध्या।

इसी प्रकार मध्यमग्राम की ग्यारह जातियों के नाम भी मैं लगे हाथ गिना दूँ— (1) गान्धारी, (2) मध्यमा, (3) पंचमी, (4) गान्धारोदीच्यवा, (5) रक्त गाँधारी, (6) कैशिकी, (7) मध्यमोदीच्यवा, (8) कार्मारवी, (9) गान्धारपंचमी, (10) आन्ध्री, (11) नन्दयन्ति।

जातियों के इन प्रभेदों में शुद्धा, विकृता और संमिश्रा जैसे भेदों को भी माना गया है। जिस रस का निर्माण करना हो, फिर वह गीत में हो, काव्य में हो या नाटक में हो, उस अवसर पर और उस समय उस उस रसानुकूल जाति को ही नियोजित किया जाता था। उदाहरण के तौर पर हम भरत का ही आधार लेते हैं। उनका यह आधार स्पष्टतः कहता है कि षड्जोदीच्यवा, मध्यमा, पंचमी तथा नन्दयन्ती ये चार जातियाँ शृंगार रस को उत्पन्न करती हैं। गान्धारपंचमी तथा मध्यमोदीच्यवा ये दो जातियाँ हास्य रस के लिए उपयोगी होंगी। षाड्जी, आर्षभी, षड्जमध्या, कार्मारवी, आन्ध्री तथा गान्धारोदीच्यवा वीर रस को जागृत करेंगी। नैषादी, गान्धारी, षड्जकैशिकी, वीभत्सजन्या भयानक रस में भी उपयोगी होंगी। षाड्जी, आर्षभी, कार्मारवी, आन्ध्री तथा गान्धारोदीच्यवा ये पाँच जातियाँ रौद्ररस के लिए उपयुक्त हैं और अंत में अद्‌भुत रस के लिए षाड्जी, आर्षभी, कार्मारवी, आन्ध्री तथा गान्धारोदीच्यवा जैसी जातियों का उपयोग किया जा सकता है। इन सभी जातियों में सर्वरसानुकूल तो केवल एक ही जाति है और वह है षड्जमध्या। क्योंकि इस जाति में निहित सात के सात स्वर मौके मौके पर अंशत्व को प्राप्त करते हैं और जो स्वर अंशत्व को प्राप्त हुआ हो उस अंशस्वर के आधारों पर ही रसनिष्पत्ति होती है। इस अंशस्वर से ही रस का निर्णय होता है। रस की अभिव्यंजना के लिए रागों के जो दो-चार तत्त्व आवश्यक एवं उल्लेखनीय हैं मैं यहाँ उनकी चर्चा करना चाहूँगा।

अंग्रेज़ी में जिसे वेरीयेशंस् और मोड्यूलेशंस् कहा जाता है और जिनके चलते भावनिदर्शन तथा रसोत्पत्ति में काफी सहायता मिलती है और गाने में या भावपोषक वार्तालाप में जिसकी बड़ी ज़रूरत है, बल्कि मेरे हिसाब से जो अनिवार्य है क्योंकि उसके बिना रससिद्धि या रसपरिपाक संभव ही नहीं है। हमारे शास्त्रकारों ने वेरीयेशंस् तथा मोड्यूलेशंस् को स्वर, स्थान, वर्ण, काकु, अलंकार तथा अंग जैसे छह अंगों में विभाजित किया है।

संगीत की परिभाषा में जिसे स्वर कहा जाता है उसे बोलचाल में और वाग्व्यवहार में भी स्वर ही कहा जाता है। दूसरे शब्दों में इसे आवाज़ के भेद कहा जा सकता है। हकीकत में तो वे स्वर के ही भेद हैं। इसी की सहायता से प्रश्न या उद्‌गार, स्वल्प या पूर्ण राग या द्वेष, स्नेह या तिरस्कार, प्रेमालाप या कलह आदि के भाव अभिव्यक्ति पाते हैं।

इसके अलावा वैदिक परंपरा में वेद पाठ के समय उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित का उपयोग किया जाता है और उसे भी स्वर संज्ञा से ही जाना जाता है। यह भी सहेतुक है। स्वर के बाद दूसरा अंग है स्थान। स्थान तीन हैं—ऊर्ध्व, मध्य तथा अधः; या तार, मध्य और मन्द्र। इन स्थानों के तीन उच्चार-स्थान भी तय हैं जिस तरह अ, ई, उ, ऋ, लृ आदि स्वरों के तथा क, च, ट, त, प आदि व्यंजनों के और ङ, ञ, ण, न, म जैसे अनुनासिक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



वर्णों के उच्चारस्थान तय हैं। उसी तरह अपनी देह को वीणा मानकर उससे क्रमशः निकलने वाले मन्द्र, मध्य तथा तार इन तीन सप्तकों के तीन स्थान भी यौगिक तौर पर और व्यावहारिक तौर पर निर्धारित हैं।

इस आधारानुसार स्वरों के तीन स्थान भी निश्चित हैं। तार-मन्द्रादि तीन सप्तकों की भी मैंने विषद चर्चा की है। अब तीसरे अंग यानी **वर्ण** का विचार किया जाए। आमतौर पर वर्ण का अर्थ अक्षर या रंग किया जाता है लेकिन हर विषय का पारिभाषिक अर्थ कुछ अलग ही होता है। संगीत की परिभाषा में वर्ण यानी स्वरों का गुण-धर्म। स्थान-भेद, उच्चार-भेद या गति-भेद के चलते स्वर या स्वरों में जो परिवर्तन होता है उसी को स्वरों का गुण-धर्म कहा जाता है। एक ही स्थान पर, एक ही स्वर को अलग-अलग ढंग से उच्चारित किया जाए और जिसके माध्यम से भिन्न अर्थ और भिन्न भाव का निरूपण हो उसी को स्वरों का गुण-धर्म कहा जाता है। मन्द्र से, बुलन्दता से, आघात से, हल्के से, कम्प से, दोलायमान गति से, आन्दोलित उच्चार से और ऐसे कई तरीकों से भावाभिव्यक्ति के लिए स्वर में जो परिवर्तन किये जाएँ उन सबको एक ही शब्द में समझाने तथा समाहित करने के लिए महर्षि ने 'वर्ण' शब्द का उपयोग किया है।

स्वर का तीसरा गुण है काकु। संगीत की भाषा में काकु शब्द के अर्थ को समझाने के लिए स्वर-भेद जैसे शब्द की योजना समुचित जान पड़ती है। गाते, बोलते या नाटक में अभिनय करते समय आवाज़ में, आवाज़ की जाति में जो परिवर्तन किया जाता है उसे संगीन की भाषा में काकु कहा जाता है। सुख-दुःखादि संवेदना-प्रसंगों पर कण्ठ में जिस तरह के परिवर्तन की आवश्यकता होती है उसे करुण प्रसंग को कहने, गाने या अभिनीत करते समय कण्ठ को गद्‌गद् होना ही चाहिए। इसी प्रकार अकुलाहट, क्रोध, शांत, चिन्ता, नैराश्य, निर्वेद, खेद आदि अवस्थाओं को दर्शाने के लिए कण्ठ से वैसी ही क्रियाओं को किये बिना, स्वर-भेद दर्शाए बिना रसोत्पत्ति संभव ही नहीं है। इन तमाम स्वर-भेदों की अवस्था को काकु संज्ञा से जाना जाता है। काकु के दो भेद हैं—निराकांक्ष और साकांक्ष। काकु के बाद अलंकार आता है।

शास्त्र में अलंकार का वर्णन कुछ यों मिलता है—जिस तरह बिना चंद्र के रात, जलहीन नदी और पुष्पहीन बेल शोभायमान नहीं लगती उसी तरह स्त्री और गीति भी अलंकारविहीन स्थिति में शोभायमान नहीं लगते। अलंकार शोभा में वृद्धि तो करते ही हैं इसके अलावा वे रस का उद्दीपन भी करते हैं। ऐसे अलंकारों के दो प्रकार माने गए हैं। इन दो तरह के अलंकारों में से भी पहले प्रकार के अलंकार को चार भागों में विभाजित किया गया है—(1) स्थायी, (2) आरोही, (3) अवरोही, (4) संचारी।

इनमें **स्थायी विभाग**—में नीचे के अलंकारों को नियोजित किया जाना चाहिए प्रसन्नादि, प्रसन्नता, प्रसन्नाद्यन्त, प्रसन्नमध्य, क्रमरेचित, प्रस्तार तथा प्रसाद।

**(2) आरोही विभाग**—में निम्नलिखित अलंकारों को समाहित किया जाता है—निष्कर्ष, प्रत्युच्चय, हसित, बिंदु, प्रेक्खोलित, आक्षिप्त, निःस्पंदमान, सम्प्रदान, सन्धिप्रच्छादन।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



(3) अवरोही विभाग—में निम्नलिखित अलंकार नियोजित किये जाते हैं—विद्रुत, स्थायीवर्ण, उद्वाहित, आहित।

(4) संचारी विभाग—में निम्नलिखित अलंकारों को समाहित किया जाता है—मन्द्र, प्रसन्नादि, बिन्दु, प्रङ्खेलित, सन्निवृत्त, प्रवृत्त, रेचित, कम्पित, कुहर, वचन, रंजीत, अवलोकित, आवृत्त, परावृत्त।

अलंकार के ये सारे ही प्रकार समस्वरों से उपजाए गए हैं और अलंकारों के नामों के अर्थों के मुताबिक स्वरों की उलट-पलट से, हेरफेर से उन्हें बनाया गया है। ये संगीत में माधुर्य लाने और रस उत्पन्न करने के लिए उपयोग में लाये जाते हैं।

इसी तरह दूसरे प्रकार के छह विभाग किये गए हैं। इन अलंकारों की समीक्षा करने से रस-सृष्टि में काकु आदि प्रयोग के अलावा स्वरसप्तक तथा गति का उपयोग कैसे किया जाए और प्राचीन समय में वह कैसे होता था इसका बोध होता है।

किसी को बुला रहे हों, आवाज़ दे रहे हों, संबोधन कर रहे हों, या आश्चर्य प्रकट करते समय, अथवा विस्मित होते हुए, आवेश दर्शाते हुए, डर दिखाते हुए, वाद-विवाद में या ऐसे ही किस्म के अन्य भावों का निदर्शन करते हुए मध्यसप्तक के पंचम से शुरू करके तार सप्तक के ऋषभ तक स्वरों की योजना मध्यगति में की जाती है।

इसी प्रकार कलह में, युद्ध में, आह्वान में, क्रोधावेश में, वार्ताधिक्य में, कठोरता, गर्व या शौर्य दर्शाने में, किसी की भर्त्सना करने में, या भय से चीखने में तारसप्तक के उच्च स्वरों का उपयोग द्रुत गति में किया जाना चाहिए। वियोग में, दैन्यदशा में, मन की शून्यावस्था में, लंबी बीमारी में, निर्वेद में, या चिन्तित स्थिति में मन्द्र सप्तक के स्वरों को विलंबित गति से धीमी आवाज़ में उच्चरित करने से अपेक्षित भाव को अभिव्यक्त किया जा सकता है।

इसी प्रकार लज्जा, भय, शीत आदि भावों की अभिव्यक्ति मध्य सप्तक के स्वरों को संकुचित करके कंपन-सहित, द्रुतगति से उच्चारित करने से हो सकती है।

इसी तरह निराशा में, उसाँस में, अत्यन्त श्रम की स्थिति में, मूर्च्छा में, चित्त की शांत स्थिति में या ऐसे ही अन्य भावों के सृजन में मन्द्रसप्तक के मन्द गति से उच्चारित स्वर अपना कार्य करेंगे और अपेक्षित रस की निष्पत्ति होगी।

अलंकार के अलावा विच्छेद, अर्पण, विसर्ग, अनुबन्ध, दीपन तथा प्रशमन जैसे छह अंगों को भी इस निरूपण के लिए आवश्यक माना गया है।

यह जान-समझकर और लगातार मनन करके मन में इतनी बात बिठा ली जानी चाहिए कि स्वर की ये सारी प्रवृत्तियाँ; स्वर, स्थान, वर्ण, काकु, अलंकार तथा अंग और इन सब अंगों का विश्लेषण भीतर के उद्रेक को अभिव्यक्ति देने के लिए ही है। इन सारे महत् प्रयत्नों का एक ही ध्येय है—रससिद्धि।

अंत में स्वरगुण, स्वरभेद, काकु, अलंकार आदि का प्रत्यक्ष ज्ञान-क्रिया में रससर्जना के लिए कैसा और किस तरह और क्या-क्या उपयोग किया जा सकता है और करना चाहिए

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



इसका एक प्रयोग सहित प्रत्यक्ष उदाहरण प्रस्तुत करना अनुचित न होगा। और आप सब भी शब्द के बदले स्वरों को सुनने के लिए उत्सुक हैं ही—

उदाहरण के तौर पर मीराबाई का सुप्रसिद्ध पद 'जोगी मत जा, मत जा, मत जा' लेते हैं।

इस गीत में सर्वप्रथम जोगी को संबोधित किया जाता है—'जोगी मत जा!'

यह संबोधन तरह से हो सकता है! जोगी समीप हो, कुछ दूर हो, अधिक दूर हो, बहुत दूर हो, पास खड़ा हुआ, चला जा रहा हो, पास होते हुए भी सुनता न हो, कठोर हो, अठोर हो, निर्मोही हो, जो जो भी कल्पनीय है, हो, जिस भी चीज़ की भावना की जा सकती हो उतने सारे ही संबोधन स्वर के स्थान के विविध भेदों के माध्यम से दर्शाए जा सकते हैं।

जोगी पास हो तो मध्य सप्तक के पूर्वांग के पूर्व स्वरों का उपयोग किया जाना चाहिए। ज़रा दूर होने की स्थिति में मध्य सप्तक के पूर्वांग के अन्तिम स्वर का उपयोग किया जाना चाहिए। अधिक दूर होने पर उत्तरांग के उच्च स्वरों से जोगी को सम्बोधित किया जाना चाहिए। बहुत दूर होने की दशा में तार सप्तक के स्वरोच्चार से उसे दर्शाया जा सकता है। चला जा रहा हो तो मध्य सप्तक के पूर्वांग से रि, गॅ, म, धॅ, नि इसी क्रम में स्वर को बढ़ाते जाना चाहिए और इसी तरह भावना के आवेगानुसार स्वर-नियोजन करने से अपेक्षित परिणाम प्राप्त किया जा सकता है।

किसी भी स्वर को, कभी भी, किसी भी तरह नहीं ही गाया जाना चाहिए। अर्थ-रहित स्वर-योजना स्वर की कसरत मानी जाएगी और यह कसरत संगीत जैसी दिव्य वस्तु को निकृष्ट कोटि में उतार देगी, स्वयं संगीतकार की भी उपेक्षा होगी।

इसी पद के संबोधन को विविध रूप में गाकर, उसके माध्यम से अनुनय, विनय, आर्जव, अनुरोध या प्रार्थना के भावों को स्वर में जाग्रत किया जा सकता है और ऐसा करके पुनः जोगी से कहा जा सकता है : "जोगी, मत जा, मत जा, मत जा!" इसी 'मत जा' को भी अनेक ढंग से उच्चारित किया जा सकता है और इस उच्चार के माध्यम से "तुम न जाओ जोगी, तुम जाना हाँ, क्यों जाते हो, कहाँ जाओगे, नहीं जाओगे तो नहीं चलेगा? क्या मुझे छोड़ जाओगे? तुम सुनते क्यों नहीं हो? मेरी इतनी सी बात भी नहीं सुनोगे? तुम निर्मोही क्यों हो? तुम मान जाओ न! क्यों ज़िद करते हो? तुम नहीं ही मानोगे? जाओगे ही? जाने वाले को कौन रोक सकता है? जाना ही हो तो मेरा इतना कहा मान लो, इतनी इच्छा पूरी करके जाओ!" इस प्रकार 'जोगी' और 'मत जा' इन शब्दों के भावों को अनेक ढंग से व्यक्त करते हुए गाने पर वैसा ही भाव विकास साधता है और तभी सम्यक् रस-सिद्धि होती है।

हकीकत में तो गाने वाला अगर भावना के रंग में रंग जाए, उसके रस में डूब जाए, रस के प्रवाह में वह बहता चला जाए तो स्वाभाविक रूप से ही स्वर-भेदादि काकु प्रयोग कण्ठ से अपने आप ही निःसृत हो जाएंगे। भगवान शंकर द्वारा सृजित, सरस्वती द्वारा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



विकसित और भरत द्वारा प्रचारित संगीत परिपूर्णता को तभी प्राप्त करता है और तभी किसी महर्षि के मुख से दिव्य वाणी प्रस्फुटित हो उठती है—

ओम् पूर्णमदः पूर्णमिदम् पूर्णात्पूर्णमदुच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।

सच में संगीत की यह संस्कृति पूर्ण, परिपूर्ण और अद्वितीय है।

अंत में, संत तुकाराम ने एक पद में गाया है—'शेवटची विनवणी सन्तजनी परिसावी'—उसी तरह आप सभी के प्रति आभार प्रदर्शित करते हुए मैं अपना व्याख्यान समाप्त करता हूँ। विशेष रूप से आभार इसलिए कि जो शास्त्रीय संगीत अभी तक जनसाधारण तथा विद्वज्जनों द्वारा उपेक्षित रहा, जो कण्ठ की कसरत माना जाता रहा, जो विलासी कामिनियों के कलकण्ठ की काकली में किलकता था और जो केवल पतितों की पूँजी माना जाता था वह आज आप सभी की सन्मति और सहमति से एस.ज़ी. विश्वविद्यालय की व्यासपीठ पर प्रतिष्ठित हो सका है।

बीच में ऐसा एक समय अवश्य ही आया था (आज भी वह अस्त हो चुका है ऐसा नहीं कहा जा सकता) जब स्वरालाप, स्वरों के सन्धिविनिमय, और तान-क्रिया के लिए कण्ठ की तैयारी में इतिश्री मानी जाती थी। लेकिन गुरुदेव विष्णु दिगम्बर पर्लुस्कर जी के महाप्रयत्नों के चलते संगीत में आज फिर से नवचेतना आयी है। प्राचीन ग्रंथों का अध्ययन होने लगा है तथा स्वर राग की रससृष्टि के संशोधन तथा अवलोकन संसार को मिलने लगे हैं। विश्वविद्यालय जैसे विद्याधाम अभी तक संस्कृति के दत्तात्रेय साहित्य, संगीत तथा कला में से एक को ही विपुल महत्त्व देकर एक ही अंग के विकास में अपने कार्य- क्षेत्र की सम्पन्नता मानते थे। अपनी इस कमी की ओर अब उनका भी ध्यान गया है। साहित्य के साथ संगीत का संवाद अनिवार्य है इस बात की भी पूरी तरह प्रतीति हुई है और विद्या की अधिष्ठात्री माँ सरस्वती की प्राणप्रतिमा बिना वीणा के अपूर्ण है इस सत्य की भी पूरी कसौटी हुई है। इसलिंए मेरे हृदय में पूरा विश्वास और श्रद्धा जागी है कि राग और रस की संगीतसिद्धि निकट भविष्य में ही विश्व को अचरज में डाल देगी और विज्ञान को भी नई दिशा देगी।

आप सभी को विश्वास हो गया होगा कि रससृष्टि का नियंता शब्द न होकर स्वर है। इसके अलावा विश्व के व्यवहार का नियामक भी शब्द नहीं बल्कि स्वर ही है। ऐसे स्वर की, संगीत की अपार, अलौकिक, निगूढ़ और विशाल व्याप्ति को मैं वाणी में कैसे उतार सकता हूँ? मुझे कहने दीजिए कि जो शब्दातीत है, वाणी से परे है, जहाँ मन, वाणी सब वापस लौटते हैं, ऐसे अथाह स्वर-संगीत की महिमा कौन बखान सकता है? जब कुछ बखाना न जा सके, कहा न जा सके, सिर्फ अनुभव किया जा सके तब आत्मा अनुभव करती है और वाणी स्वतः ही मूक हो जाती है। मैं भी अंत में 'न इति, न इति, न इति—नेति, नेति, नेति' को गाकर मौन होता हूँ, और सर्वसाक्षी स्वरदेव को प्रणाम करता हूँ।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

# उन्मीलन गोष्ठी

उन्मीलन गोष्ठी की यह बैठक 10 मई 1998 को श्री यशदेव शल्य के घर पर हुई। इसमें निम्नलिखित ने भाग लिया—प्रोफेसर दयाकृष्ण, श्री यशदेव शल्य, डॉ॰ मुकुन्द लाठ, डॉ॰ राजेन्द्रस्वरूप भटनागर, डॉ॰ नन्दकिशोर शर्मा, डॉ॰ के. एल. शर्मा, डॉ॰ सरला कल्ला, डॉ॰ योगेश गुप्ता, डॉ॰ भगवती राव, डॉ॰ कमलनयन तथा डॉ॰ प्रेमलता शर्मा। इस गोष्ठी में डॉ॰ राजेन्द्रस्वरूप भटनागर ने **विचार-स्वातंत्र्य तथा बौद्धिकता की अनेकरूपता** पर संक्षिप्त वक्तव्य के साथ विषय-प्रवर्तन किया।

उन्होंने कहा कि पिछले कुछ दशाब्दों में यूरोप में संस्कृति तथा विज्ञान के इतिहास विषयक अध्ययनों के सन्दर्भ में बौद्धिकता की अनेक रूपता तथा सापेक्षता को लेकर अनेक प्रकार के प्रश्न सामने आये हैं। बोद्धिकता की अनेकरूपता से जुड़ा एक और सन्दर्भ है जिसे विचार-स्वातंत्र्य का सन्दर्भ कहा जा सकता है, किन्तु इस दूसरे सन्दर्भ पर विचार के लिए स्वयं विचार और उसकी स्वतंत्रता के अर्थ का निर्धारण आवश्यक है। इन दोनों प्रश्नों पर विचार आरम्भ करने के लिए किसी समस्या पर कुछ लोगों द्वारा विचार-विमर्श को उदाहरण रूप में लिया जा सकता है। इस विमर्श का रूप सामान्यतः वाद-विवाद का होता है और अधिकांश में इस वाद-विवाद का अन्त किसी तत्त्व-बोध या सहमति में नहीं होकर दोनों पक्षों के अपने-अपने मत में ज्यों का त्यों बने रहने में ही होता है।

यहां प्रश्न हो सकता है कि क्या इस मत-भेद को अनेक प्रकार की बौद्धिकताओं के रूप में देखा जा सकता है? उनका मानना था कि इसे इसी प्रकार देखना चाहिए। उनके अनुसार, संवाद में एक से अधिक भाग लेने वाले सदस्यों में न केवल सैद्धान्तिक मतभेद होता है बल्कि उनके सोचने के ढंग में, प्रमाण-विचार में, उनकी दृष्टि और अवधारणाओं के स्वरूप में तथा जानकारियों और संस्कारों आदि में भी भेद होता है। वास्तव में तो असहमतियों का मूल अधिकांशतः जीवन-शैलियों के भेद में होता है।

भटनागर साहिब के इस संक्षिप्त वक्तव्य के अनन्तर चर्चा का आरम्भ करते हुए श्री यशदेव शल्य ने वादियों के मत-भेद को बौद्धिकताओं में प्रकार-भेद कहने को अयुक्ति-संगत कहा। क्योंकि, उनके अनुसार, वाद-विवाद का आधार विचार में दृष्टि-भेद होता है, जिसका अर्थ है बौद्धिकता का एक ही प्रकार होना। नन्दकिशोर जी ने भटनागर साहिब से बौद्धिकता को परिभाषित करने को कहा। उन्होंने प्रश्न किया कि क्या बौद्धिकता चेतना की उसी प्रकार एक कोटि है जैसे मन और इन्द्रियां हैं या कि यह चेतना की इन कोटियों का गुण है? इस प्रश्न को आगे बढ़ाते हुए मुकुन्द जी ने प्रश्न किया कि आप 'बौद्धिकता'

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



का व्यावर्त्तक क्या मानते हैं? क्या कला बौद्धिक विषय है या नहीं? मुकुन्द जी ने आगे कहा कि ऐसा प्रतीत होता है कि भटनागर साहिब के अनुसार बौद्धिकता का व्यावर्त्तक विचार-स्वातंत्र्य का अभाव है। डॉ॰ प्रेमलता शर्मा ने बौद्धिकता को विचारात्मक और विचार को द्वन्द्वात्मक कहा। उन्होंने कहा कि पक्षान्तरों की सम्भावना विचार का अन्तर्गत स्वभाव होता है। दया जी ने इसका समर्थन करते हुए इसका विशदीकरण किया। डॉ॰ के. एल. शर्मा ने के. सी. भट्टाचार्य के विचार में स्तर-भेद की अवधारणा का उल्लेख किया। श्री यशदेव शल्य ने बौद्धिकता को विचार तक अथवा विचार को अमूर्त प्रत्ययों तक सीमित करने को अयुक्त बताते हुए व्यवहार-चातुरी, वस्तु-योजना तथा कला और शिल्प-रचना को भी इसी के अन्तर्गत गणनीय कहा। इस क्रम में अमूर्त्त प्रत्ययमूलक विचार (दर्शन) और मूर्त्त प्रत्ययमूलक विचार (पुराण, मिथक, कला, शिल्प आदि), विचार में पूर्व मान्यताओं का स्थान और ज्ञान में सन्देह आदि पर भी चर्चा हुई, जिसमें सभी ने योगदान किया।

योगेश गुप्ता
दर्शन विभाग, राज. विश्वविद्यालय,
जयपुर।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection